शंकर शर्मा 'पिपासु'

व्यक्तित्व और कृतित्व

[illegible]

शंकर शर्मा 'पिपासु'

व्यक्तित्व और कृतित्व

K. P. SABHA AMBPHALLA
LIBRARY
No. 304
Date 31/7/05
JAMMU

शंकर शर्मा 'पिपासु'

व्यक्तित्व और कृतित्व

[redacted]

सुभाष भारद्वाज

जे० एण्ड के० अकादमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़

जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट,
कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग जम्मू
द्वारा प्रकाशित

मूल्य : Rs. 22

प्रथम संस्करण : १९८६
रूपाभ प्रिंटर्स, दिल्ली-३२
द्वारा मुद्रित

SHANKAR SHARMA 'PIPASU' : VYAKTITAV
AUR KRITITAV
edited by Subhash Bhardwaj

प्रकाशकीय

यद्यपि अकादमी की स्थापना छठे दशक में ही हो गई थी लेकिन हिन्दी पत्रिका और पुस्तकों के प्रकाशन का काम सन् १९६४ से हाथ में लिया गया था। अकादमी ने जहां एक ओर स्वयं जम्मू कश्मीर के हिन्दी लेखकों की पुस्तकों का प्रकाशन आरम्भ किया वहीं लेखकों को उनकी पुस्तकों के प्रकाशन के लिए वित्तीय सहायता देने की योजना भी शुरू की। पुस्तकें स्तरीय हों इस बात को सुनिश्चित करने के लिए श्रेष्ठ पुस्तकों पर पुरस्कार प्रदान करने की भी व्यवस्था की गई। जम्मू-कश्मीर के हिन्दी लेखकों का देश के अन्य भागों के प्रतिष्ठित लेखकों से मेलजोल बढ़े—इस दृष्टि से लेखक सम्मेलनों का आयोजन भी समय-समय पर किया जाता रहा है। हमें प्रसन्नता है कि आज शीराज़ा (हिन्दी) की गणना देश की प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिकाओं में की जाती है और इस अंचल में हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए अकादमी जो प्रयत्न कर रही है उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है।

किसी भी कलाकार के साथ यह एक सुखद स्थिति होती है कि वह अपने निधन के बावजूद अपनी रचनाओं में जीवित रहता है। एक समर्पित कवि के नाते श्री शंकर शर्मा 'पिपासु' ने हिन्दी की बहुत सेवा की है। अपने जीते जी उन्होंने दो संग्रह तो अकादमी से प्राप्त वित्तीय सहायता से छपवा लिए थे। किन्तु उनकी अनेक कविताएं उनके जीवनकाल में पुस्तकाकार छपने से वंचित रहीं। हमें लगा कि पिपासु की रचना-यात्रा को समग्रता में देखने और जानने के लिए इन कविताओं का पुस्तकाकार छपना आवश्यक है। वैसे भी एक निष्ठावान साहित्यकार के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि का यही सच्चा रूप हो सकता है कि हम उसकी अप्रकाशित कृतियों को प्रकाश में लाएं। फलतः हमने स्व० 'पिपासु' के घनिष्ठ मित्र और प्रशंसक प्रो० सुभाष भारद्वाज से शंकर शर्मा 'पिपासु' : व्यक्तित्व

और कृतित्व शीर्षक प्रस्तुत पुस्तक तैयार करने का अनुरोध किया था। हमें प्रसन्नता है कि अपरिहार्य कारणों से हुए विलम्ब के बावजूद किताब अंततः छपकर सामने आ रही है। इस पुस्तक का सर्वत्र स्वागत होगा···ऐसा हमें विश्वास है।

जितेन्द्र शर्मा
अतिरिक्त सचिव

जम्मू
दिनांक १९-३-१९८६

अनुक्रम

लेखकीय	१
परिवेश	५
व्यक्तित्व के नख-शिख	१०
रचनाएं	३१
दो चांद	३३
छायावादी भावभूमि	३८
अन्तर्विरोध	४२
सार्थकता की तलाश	४५
अवसाद का उदात्तीकरण	४७
निष्कर्ष	४९
प्रगति और राष्ट्रीयता के स्वर	५१
शिल्प और शैली	५३
सीमा का पंछी	५४
जीवन दृष्टि	५६
यथार्थ के धरातल पर	६३
आध्यात्मिक भावभूमि	६६
शृंगारिकता	७३
अप्रकाशित रचनाएं	७८
अनजान साधना	८०
भाषा, शिल्प तथा शैली	९३
परिशिष्ट	९७

लेखकीय

तीन-चार वर्ष पूर्व जब अकादमी द्वारा इस पुस्तक के लिखने का कार्यभार मुझे दिया गया तो लगता था कि यह काम कुछ ही महीनों के भीतर संपन्न हो जाएगा। मैंने इस ग्रन्थ की रूपरेखा भी जल्दी ही बना ली। पर इस कार्य के जो नख-शिख मैंने स्थिर किये उन्हें कार्यान्वित करने के लिये अधिक समय की तो नहीं किन्तु बहुत से स्थानीय साहित्यकार बन्धुओं के सहयोग की बड़ी आवश्यकता थी। इसके लिये जम्मू के कई साहित्यकारों से मिलकर मैंने बार-बार अनुरोध किया कि वे पिपासु जी के विषय में जो कुछ भी जानते हों मुझे लिखकर भेजें। उनसे कई बार विनम्र निवेदन भी किया कि वे पिपासु-संबंधी जो भी सामग्री भेजेंगे उससे प्रस्तावित ग्रंथ अधिक संपन्न एवं प्रामाणिक बन सकेगा। परन्तु खेद है कि इनमें से कई तो साफ टाल गये। हां, कुछ मित्रों ने शीघ्र ही सामग्री भेजने का वायदा किया। मगर महीनों नहीं वर्षों की प्रतीक्षा, और उस बीच उनसे किये गये बार-बार अनुरोध के बावजूद सफलता के नाम पर शून्य ही हाथ लगा। इनमें विशेष रूप से उन कवि-बन्धुओं के व्यवहार से तो आंतरिक आघात पहुंचा जो वर्षों तक पिपासु के निकट संपर्क में रह चुके थे। इनमें कवि के उन सहकर्मियों के व्यवहार से बहुत ही दुःख हुआ जो, कवि की मृत्यु के तुरंत बाद, उनके बहुत अधिक हमदर्द होने के दावे हांकते देखे गये थे। जो लोग कवि के जीवन में (उसकी निर्धनता के बावजूद) अपने दलगत लाभ के लिये उन्हें वर्षों अपने साथ लपेटे रहे वे भला मरने के बाद उनके लिये क्या कर सकते थे? सचमुच निर्धनता सबसे बड़ा अभिशाप है। मैंने इन साहित्यकार बन्धुओं से यहां तक कहा कि और कुछ नहीं तो केवल पिपासु संबंधी अपने कुछ संस्मरण ही लिखकर भेजें जिन्हें इस ग्रंथ के परिशिष्ट के रूप में जोड़ा जा सके। परन्तु बहुत-बहुत कहने पर भी कुछ हाथ न लगा। इन लोगों की इस संबंध में दिखाई गई उदासीनता से मुझे महसूस हुआ कि ये लोग पिपासु के बहुत पास रहकर भी उनके बारे में कुछ भी नहीं जान सके, तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कथन 'एकला चलो' का अनुसरण करना ही मैंने श्रेयस्कर समझा। तब हताश होकर कवि के निकट सम्बन्धियों के साथ सम्पर्क स्थापित किया। उनसे कवि के जीवन के कुछ दुःखद प्रसंगों और

परिस्थितियों का तो बहुत कुछ पता चल गया परन्तु उनके कवित्व पर वे कोई भी उल्लेखनीय जानकारी नहीं दे सके। कवि के भानजे श्री वीरेन्द्र कुमार और उनके अनुज श्री कृष्णदत्त शर्मा के सौजन्य से कवि के शैशव, किशोरावस्था और यौवन-काल की परिस्थितियों के विषय में जो तथ्य मालूम हुए वे संख्या में थोड़े होते हुए भी बहुत महत्त्वपूर्ण थे। उनके बड़े पुत्र रामनरेश से कुछ भी पता न चला क्योंकि कवि की मृत्यु के समय वह बहुत छोटा था। परन्तु उखड़े-पुखड़े घरके कच्चे फर्श पर बैठा रामनरेश अपनी अश्रु-विह्वल आंखों से बहुत कुछ बता गया। इस प्रकार कुछ तो इस तरह से मिली जानकारी के आधार पर और कुछ कवि के साथ अपने संक्षिप्त संपर्क की स्मृतियों के बल पर पिपासु के जीवन और व्यक्तित्व को लेकर इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध पूरा किया जा सका।

पिपासु व्यक्ति और कवि के रूप में कितने अच्छे और कितने बड़े थे, इस बात को लेकर ग्रंथ में विस्तार के साथ कहा जा चुका है। पिपासु निश्चय ही एक अभिशप्त व्यक्ति थे। निर्धनता को मनुष्य का सबसे बड़ा अभिशाप माना गया है। धनाभाव से मनुष्य के बड़े से बड़े गुण भी फीके पड़ जाते हैं। क्योंकि 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति'। पिपासु निर्धन थे। इसी कारण वे न तो अपने जीवन में और न ही अपनी कविता में उतना बड़ा और अच्छा स्थान प्राप्त कर सके, जिसकी संभावनाएं उनके भीतर विद्यमान थीं। अपने कवि जीवन के प्रारंभिक वर्षों में अवश्य ही उनमें एक अलबेले युवक की उमंग और उल्लास दिखाई पड़ता है। ये जम्मू में हिन्दी कविता की पहली करवट के दिन थे। एक साथ कई युवा कवि प्रतिभाएं उभर रही थीं। साहित्य-गोष्ठियों में उन दिनों कवि के गीत सबको मंत्र-मुग्ध कर देते थे। पर कवि के जीवन में उल्लास के दिन संख्या में बहुत ही थोड़े थे। अध्यापक के रूप में नियुक्ति होने के बाद कवि जम्मू से स्थानान्तरित होकर लगभग बीस-बाईस वर्ष तक बाहर सुदूर कस्बों-गांवों में नियुक्त रहा। निर्धनता के साथ साथ इस लम्बे प्रवास (ग्रामवास) ने उसके अवशिष्ट उत्साह और उल्लास को चाट लिया। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में कवि की आत्मा और कविता मरे तो नहीं, हां, जीवन के नाम पर केवल सांस जरूर लेते रहे।

निर्धनता इतना बड़ा रोग है कि आदमी को जीवन के किसी भी क्षेत्र में स्वस्थ नहीं रहने देती। पिपासु की कविता का बहुत बड़ा भाग एक विरह विदग्ध प्रणयी के उच्छ्वासों से परिपूर्ण है। एक एक छन्द से प्यार की भूख टपकती है। माता-पिता के अभाव तथा निर्धनता के कारण उनका विवाह पैंतालीस वर्ष की आयु तक न हो सका। अधेड़ अवस्था में हुए विवाह से उनकी शारीरिक जरूरत की कुछ पूर्ति तो शायद हो गई हो परन्तु इससे उन्हें निश्चय ही वह कुछ नहीं मिल सका, जो पन्द्रह बीस वर्ष पूर्व मिल सकता था। इसी कारण पचास-पचपन वर्ष की आयु में भी जब वे प्रेयसी के विरह में भीगे गीत अलापते तो कई श्रोता हंस देते। वास्तव में

होता यह है कि जब कोई अभाव किसी के जीवन में बहुत समय तक बना रहता है तो उसके लिये चीखना चिल्लाना उसके स्वभाव में कुछ इस तरह घुल-मिल जाता है कि उस अभाव की पूर्ति के बाद भी वैसा ही बना रहता है।

कवि का लम्बा प्रवास (ग्रामवास) हिन्दी कविता की बदलती दिशाओं को पकड़ने में उसके लिये बाधक रहा। पिपासु आद्योपान्त १९२०-३० की हिन्दी काव्य परंपरा के साथ जुड़े रहे। इसी कारण, कई स्थानीय नये कवियों को उनकी रचनाओं में भाव सामग्री के स्थान पर उपहास-सामग्री अधिक दिखाई पड़ती थी। उनका कविता पाठ शुरू होते ही आसपास बैठे नये कवियों के नाक भौहों में बल पड़ने शुरू हो जाते और कुछ तो अगल बगल झांकने-मुस्कराने भी लगते थे। परन्तु वह निश्छल और सरल काव्य साधक यह सब कुछ देख-सुनकर भी अनदेखा और अनसुना कर देता। क्योंकि यह सब नियति के उन आघातों से अधिक दारुण नहीं था जिन्हें कवि उम्र भर झेलता आया था।

इस प्रकार छायावादी युग की कविता और कुछ कुछ द्विवेदी युग की कविता पिपासु की कविता का प्रमुख उपजीव्य थी। उनकी दृष्टि एक विशिष्ट कोण पर स्थिर हो चुकी थी। १९६५-६६ में जब वे अपने ग्रामवास से निकलकर नई कविता के अपरिचित माहौल में दाखिल हुए तो उन्होंने कई बार नई कविता के छोर को पकड़ने के प्रयास किये। परन्तु इसमें उन्हें कभी भी सफलता न मिल सकी। ग्रंथ के परिशिष्ट में, इसी के उदाहरण-स्वरूप, उनकी कुछ कविताएं उद्धृत की गई हैं। उन्हें पढ़कर विज्ञ पाठकों को समझने में देर नहीं लगेगी कि ऐसी रचनाओं में नई कविता को पकड़ने के लिये उनमें छटपटाहट से अधिक कुछ नहीं है। वे मुख्य रूप से एक शृंगारिक कवि और सशक्त गीतकार थे। यही कारण है कि अपनी स्वच्छन्द रचनाओं में वे असहज से दिखाई पड़ते हैं।

परन्तु 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं' के दृष्टिकोण से देखें तो पिपासु की भाव-शैली परम्परा निबद्ध होते हुए भी अपनी मौलिक उद्भावनाओं के कारण एक ताज़गी और रस लिये हुए है। अनुभूति की यह सहज एव सरल अभिव्यंजना, नव्य प्रतीकों, रूपकों की योजना के अभाव में भी श्रेष्ठ कविता की कोटि में बैठाने लायक बन पड़ी है। अतः पिपासु, जम्मू की हिन्दी कविता के विकास-क्रम में निःसन्देह अपना विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

इस ग्रंथ को पूरा करने में निश्चित रूप से बहुत अधिक विलम्ब हुआ है। इस लम्बे विलम्ब के लिये लेखक की कई निजी विवशताएं भी कारण रही हैं। अकादमी के अधिकारियों और विशेष रूप से अतिरिक्त सचिव श्री जितेन्द शर्मा तथा हिन्दी-सम्पादक श्री रमेश मेहता के उस अपार धैर्य की दाद दिये बिना नहीं रहा जा सकता, जो उन्होंने इस बीच दिखाया। उन्होंने इस लेखक की अनगिनत वायदाखिलाफियों को हंसकर झेल लिया। उनका आभारी भी हूं कि उन्होंने अपने

बेशुमार स्मरण-पत्रों द्वारा इस ग्रंथ को पूरा करने में मेरी लेखनी को त्वरता प्रदान की।

मैं पिपासु के अनुज श्री कृष्णदत्त शर्मा तथा उनके भानजे श्री वीरेन्द्रकुमार शर्मा का बहुत आभारी हूं जिन्होंने कवि विषयक बहुमूल्य जानकारी देकर इस ग्रंथ को पूरा करने में अपना हार्दिक सहयोग दिया। अन्त में अपने मित्र सुतीक्षणकुमार आनंदम का उस बहुमूल्य योगदान के लिये, जो उन्होंने श्री वीरेन्द्र कुमार से सम्पर्क स्थापित करने में तथा कवि के कुछ दुर्लभ चित्र देकर प्रदान किया है, बहुत आभारी हूं।

अपने इस प्रयास में मैंने पिपासु के व्यक्ति और कवि की छवि को पूरी क्षमता और ईमानदारी के साथ आंकने का प्रयास किया है। इतने पर भी यदि ग्रंथ में कहीं कोई त्रुटि रह गई हो अथवा कोई महत्वपूर्ण बात छूट गई हो तो उसका उत्तरदायित्व भी मेरा ही है।

शान्ति वास
अम्बफला, जम्मू।

—सुभाष भारद्वाज

परिवेश

पिपासु के व्यक्तित्व और कृतित्व पर कुछ कहने से पूर्व उस भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक एवं राजनीतिक परिवेश पर विचार कर लेना ठीक रहेगा जिस के बीच ऊझते-जूझते कवि अपनी काव्य यात्रा में गतिशील रहा। क्योंकि स्थानीय साहित्यिक विरसे के नाम पर तो लगभग शून्य ही उसके हाथ लगा था। इसलिए पिपासु के व्यक्ति और कवि की पहचान करने के लिये उन सभी कड़वे-मीठे मौसमों की जानकारी प्राप्त करना जरूरी हो जाता है जिनके मध्य हंसते-उमगते अथवा भीगते, ठिठुरते हुए कवि ने जीवन को जिया और काव्य रचना की।

जम्मू में हिन्दी कविता का उन्मेष सन् १९३०-४० के आस-पास हुआ था। और पिपासु के काव्य सृजन का आरंभ भी यहीं से होता है। दूसरे शब्दों में पिपासु को, जम्मू में आधुनिक हिन्दी कविता की दागवेल डालने वाले कवियों में प्रमुख होने का गौरव प्राप्त है। और यह तथ्य पिपासु के महत्व को और भी बढ़ा देता है कि १९३०-४० के आरंभिक कवियों में, परंपरा के साथ सन्निबद्ध होते हुए भी, वे सातवें दशक तक बराबर कविता लिखते रहने का साहस कर सके। जिन्होंने उनके साथ-साथ हिन्दी में लिखना शुरू किया था, उनमें लगभग सबके सब कवियों ने हिन्दी कविता के नए तेवरों की ताब न लाते हुए, या तो क्षेत्रीय भाषा में कलम को आज़माना शुरू कर दिया या फिर लिखना ही छोड़ दिया। लेकिन तब भी, सभी तरह के प्रलोभनों से आंखें मूंद कर, स्थानीय काव्यक्षेत्र में टिके रहना पिपासु के अनन्य हिन्दी-सेवी होने का मुंह बोलता प्रमाण है।

पिपासु का जन्म यद्यपि जम्मू नगर में हुआ था परन्तु उनके परिवार का संबन्ध जम्मू के एक निकटवर्ती गांव छन्नी के साथ होने के कारण उनका व्यक्तित्व एक विशिष्ट ग्रामीण सहजता, सरलता, सादगी और मासूमियत लिये हुए था जिसमें शालीनता के संयोग ने उन्हें बहुत ही वांछनीय एवं स्निग्ध व्यक्तित्व प्रदान कर दिया था। वेशभूषा, मुखमुद्रा और व्यवहार आदि की दृष्टि से देखने पर वे नगरवासी होने का अहसास उतना नहीं देते थे जितना कि एक सहज-सरल ग्रामीण होने का।

हमारे विवेच्य काल (१९३०-१९४०) में जम्मू नगर भी आज की परिभाषा

में नगर न होकर एक बड़े गांव जैसा ही था। इसकी चहल-पहल और गहमा-गहमी तब दो तीन किलोमीटर क्षेत्रफल के भीतर ही सीमित थी। पंजतीर्थी से लेकर रघुनाथ मंदिर और पीरमिट्ठा से लेकर शालामार चौक के बीच-बीच ही तत्कालीन जम्मू नगर की सीमा थी। नन्दा बस सर्विस और कश्मीर दरबार बस सर्विस नामक दो बहुत ही छोटे-छोटे बस स्टैंड और एक छोटा-सा रेलवे स्टेशन था। लड़कों के दो और लड़कियों के लिये एक हाई स्कूल था। प्राइवेट स्कूल केवल एक दो ही थे। रेल, सड़क और डाक-तार आदि के कारण तत्कालीन भारतीय सीमा के बहुत पास होते हुए भी यहां पर अभी नगरीय संस्कारों का संस्पर्श भली-भांति नहीं हो पाया था। लगभग एक सौ बीस मील दूरस्थ तत्कालीन पंजाब की राजधानी लाहौर जैसे उत्तरी भारत के शिक्षा, साहित्य, कला और संस्कृति के प्रसिद्ध केन्द्र के साथ रेल और सड़क से बहुत समीप होते हुए भी तब यहां का जन-जीवन शान्त, सौम्य, शालीन और बड़े शहरों के तेवरों से अभी बहुत दूर था। दो सिनेमाघर थे मगर उनके आस-पास भी आज जैसी भीड़-भाड़ नहीं होती थी। जनसंख्या पैंतीस चालीस हज़ार के बीच थी। तथाकथित स्वतन्त्र राज्य होते हुए भी यहां के लोगों में अंग्रेज-शासित क्षेत्र (ब्रिटिश भारत) के लोगों जैसी सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना अभी जागृत नहीं हुई थी। यहां की राजनीति साम्प्रदायिकतावादी हिन्दू महासभा और मुस्लिम कॉन्फ्रेंस, इन दो परस्पर विरोधी दलों द्वारा धार्मिक उत्सवों एवं पर्वों पर कराई जाने वाली मुठभेड़ों और दंगों तक ही सीमित थी। राष्ट्रीय चेतना एवं देश भर में चल रहे स्वतन्त्रता-आंदोलनों के प्रति कुछ इने-गिने शिक्षित एवं प्रबुद्ध लोगों को छोड़, सामान्य जन में कोई रुचि एवं उत्साह नहीं था। हां, धार्मिक उत्सवों तथा त्योहारों की धूम-धाम और गहमा गहमी देखते ही बनती थी। अंग्रेजी इलाके के साथ दिन-दिन उत्तरोत्तर बढ़ते सम्पर्क के फलस्वरूप युवा पीढ़ी में साम्प्रदायिकता की भावना ज़रूर पनपने लगी थी। मगर पुरानी पीढ़ी के हिन्दुओं और मुसलमानों की आपसी मित्रता एवं पारस्परिक सौहार्द तथा घनिष्ठता में इससे कोई अन्तर नहीं आया था।

तत्कालीन जम्मू का सामाजिक जीवन आज की तरह बिखरा-बिखरा न होकर स्नेह और सद्भावना के दृढ़ सूत्र में बंधा हुआ था। पूरी तरह गठा हुआ और जुड़ा हुआ। दुःख-सुख में एक दूसरे का साथ देना लोग अपना नैतिक कर्तव्य समझते थे। युवा पीढ़ी में आज जैसी उद्दण्डता एवं धृष्टता का अभाव था। बड़ों का आदर सम्मान किया जाता था। वेश-भूषा में निकटवर्ती पंजाब के वड़े नगरों जैसी तड़क-भड़क अभी नहीं आई थी। स्त्रियों का बाजारों में घूमना-फिरना अधिक नहीं होता था। विशेष रूप से युवतियां तो बहुत ही कम बाहिर निकलती थीं। यहां पर चाय का प्रचलन अभी लगभग शुरू ही हुआ था। पूरे शहर में केवल

एक दो ही चाय की दुकानें थीं। शराब का प्रचलन भी, आज की तुलना में अनुपातत: बहुत ही कम था। नगर में देशी शराब की केवल दो दुकानें (ठेके) और अंग्रेज़ी शराब की पूरे शहर में केवल एक दो ही दुकानें थी। छूतछात का प्रचलन बहुत अधिक होते हुए भी निम्न जातियों के लोगों के साथ ऊंची जाति के लोगों का व्यवहार संवेदना एवं सहानुभूति लिए रहता था। गलियों बाज़ारों में आज की तरह गंदगी और दुर्गंध नहीं होती थी। तब जम्मू उत्तरी भारत का, सम्भवत: सबसे अधिक साफ़-सुथरा शहर समझा जाता था। देवी-देवताओं की पूजा उपासना और नवरात्रों की धूम-धाम देखते ही बनती थी। बाहु-किले में साल में दो बार और नहर पर वैशाखी के दिन लगने वाले मेले यहां के लोगों के लिए बहुत बड़े आकर्षण थे। थोड़ी दूरी पर बसे पंजाब के आधुनिक नगरों की तुलना में जम्मू का जनजीवन पौराणिक सा लगता था। आज की तरह सड़कों, चौराहों और गली कूचों में स्कूटरों, मोटरकारों, ट्रकों, और दूसरे वाहनों की रेलपेल नहीं थी। कभी-कभी सहसा नजर आ जाने वाली मोटर-साइकल लोगों के कौतूहल का विषय होती थी। नगर में महाराजा हरिसिंह की दो तीन मोटरकारों के अतिरिक्त कुछ गिनती की मोटरकारें ही दिखाई पड़ती थीं। स्थानीय यातायात तांगों पर ही होता था। नगर में दो छतों वाले मकानों की संख्या गिनती की ही थी। मच्छर का तो नाम तक नहीं था। स्वास्थ्य की दष्टि से जम्मू एक आदर्श नगर समझा जाता था। व्यापार और व्यवसाय की दृष्टि से यहां कोई विशेष आकर्षण नहीं था। उद्योग के नाम पर यहां रेशम और रेज़िन के दो छोटे-छोटे कारखाने थे। अधिकांश लोग सरकारी नौकरी या छोटी-मोटी दुकानें करते थे। आज जैसा व्यावसायिक विस्तार और समृद्धि तब यहां पर नहीं थी।

आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा क्षेत्र होने के कारण यहां लोगों में शिक्षा के प्रति अधिक रुचि एवं उत्साह नहीं था। आठवीं कक्षा अथवा दसवीं तक पढ़ लेना पर्याप्त समझा जाता था। प्रिंस ऑव वेल्स (उस समय के एकमात्र) कॉलेज में छात्रों की संख्या आज की अपेक्षा बहुत ही कम थी। हिन्दी की स्थिति तो बहुत ही शोचनीय थी; क्योंकि तब यहां की राज-भाषा फारसी बहुल उर्दू थी। इसलिए हिन्दी का पठन-पाठन भी व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी एवं वांछनीय नहीं समझा जाता था। इसी कारण यहां पर हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ने का प्रचलन भी बहुत ही कम था। हिंदी साहित्य के प्रति रुचि कॉलेज के कुछ अध्यापकों, उन्हीं की प्रेरणा से कुछ गिनती के छात्रों और कुछ पढ़े लिखे लोगों तक ही सीमित थी। हिन्दी साहित्य के सृजन की बात तो दूर, यहां पर हिन्दी साहित्य का पठन-पाठन भी कुछ इने-गिने सुशिक्षित परिवारों तक ही सीमित था।

जम्मू क्षेत्र में हिन्दी के उत्थान की दृष्टि से चौथा दशक अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। जम्मू के कुछ उत्साही हिन्दी प्रेमियों का एक दल, अत्यन्त विरोधी

परिस्थितियों के रहते हुए भी, हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार के पुनीत कार्य में अग्रसर हुआ। इसने यहां पर 'हिन्दी प्रचारिणी सभा, जम्मू' नामक एक सशक्त संस्था की स्थापना की। यह संस्था काशी नागरी प्रचारिणी सभा के साथ सम्बद्ध थी। श्री धर्मचन्द्र प्रशान्त, स्व० बंसीलाल सूरी, शान्ता भारती, स्व० पं० रमाकान्त भारद्वाज शास्त्री तथा श्री भागमल आदि महानुभाव इस संस्था के संचालन में कई वर्षों तक तन, मन, धन से सक्रिय रहे। लेखक के पिता स्वर्गीय रमाकान्त भारद्वाज की दुकान भारद्वाज फार्मेसी, पीरमिठ्ठा चौक, जम्मू में इस सभा की नियमित रूप से बैठकें हुआ करती थीं और उनमें सभा के कार्यक्रमों तथा योजनाओं पर विचार किया जाता था। इस संस्था के प्रतिनिधि मण्डल कई वार इस राज्य के तत्कालीन प्रधान मंत्री गोपालस्वामी आयंगर से मिले। सभा ने स्कूलों और न्यायालयों में हिन्दी की उपेक्षा का कड़ा विरोध किया और इस सम्बन्ध में अपनी कई मांगें स्वीकार भी करवाईं। हिन्दी प्रचार समिति, वर्धा द्वारा संचालित हिन्दी परिचय तथा हिन्दी कोविद नाम की प्रारंभिक परीक्षाओं का आयोजन हिन्दी प्रचारिणी सभा द्वारा कई वर्षों तक वड़ी सफलता से किया जाता रहा। इन परीक्षाओं में वहुत बड़ी संख्या में बच्चे, युवक एवं वयस्क बैठा करते थे। सभा के कार्यकर्ताओं की उस निःस्वार्थ भावना, अपार लगन और दृढ़ निष्ठा के फलस्वरूप जम्मू के लोगों में हिन्दी के पठन-पाठन के प्रति रुचि उत्तरोत्तर वढ़ने लगी। सभा की कुछ शाखाएं जम्मू के तहसील एवं ज़िला केन्द्रों में भी खोली गईं।

हिन्दी प्रचारिणी सभा की स्थापना के लगभग साथ-साथ ही जम्मू में हिन्दी-साहित्य मण्डल नाम की एक संस्था का गठन हुआ। इस संस्था की गोष्ठियों में हिन्दी साहित्य प्रेमी युवक और युवतियां अच्छी-खासी संख्या में बड़ी तत्परता से भाग लेते थे। जिनमें शकुन्तला सेठ, सुशीला तुली, कृष्णा गुप्ता, राज (भल्ला), धर्मचन्द्र प्रशान्त, शंकर शर्मा पिपासु और चन्द्रकान्त जोशी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रतिभाशील एवं उत्साही युवक भी इन साहित्यिक गोष्ठियों में भाग लेते थे जो कुछ समय बाद डोगरी-साहित्य साधना में लग गए। इस प्रकार चौथे दशक के जम्मू में हिन्दी के उत्थान को लेकर दोहरा आन्दोलन चल रहा था। हिन्दी प्रेम के उस ज्वार को कोई 'हल्का सा आन्दोलन' कहकर भले ही अपनी हिन्दी-विरोधी भावना को तृप्त कर ले परन्तु वास्तविकता को झुठलाना आसान नहीं होता। उन दिनों चलने वाली 'हिन्दी लहर' की तीव्रता का अनुमान इसी बात से लग जाता है कि उन पांच-सात वर्षों की अल्पावधि में ही जम्मू से वसुधा, उषा, भारती, रणवीर, गुलाब आदि एकाधिक श्रेष्ठ हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। जिस क्षेत्र में शिक्षा, प्रशासन, न्यायालयों आदि की भाषा उर्दू-फारसी हो वहां कुछ ही वर्षों के भीतर चार-पांच स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशित होना हिन्दी-प्रेम की एक तीव्र लहर नहीं तो और क्या

था ? आज जबकि जम्मू में हिन्दी-प्रेमियों, पाठकों और लेखकों की संख्या बहुत अधिक बढ़ चुकी है तथा मुद्रण आदि की सुविधाएं भी बहुत अधिक हैं, एक दो राजकीय पत्रिकाओं को छोड़ हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की स्थिति नगण्य ही है। एक-दो स्थानीय साहित्यिक संस्थाओं द्वारा अनियमित रूप से प्रकाशित होने वाली कोई पत्रिका बीच-बीच में जम्मू के हिन्दी प्रेम का प्रमाण जरूर प्रस्तुत कर जाती है।

१९२०-१९४० के बीच जम्मू नगर की जिस स्थिति का वर्णन ऊपर किया गया है, संक्षेप में पिपासु के कवि का परिवेश यही था। उस काल के युवकों में, स्थानीय वातावरण में व्याप्त लगभग निष्क्रियता एवं ठहराव की सी स्थिति के फलस्वरूप, किसी तरह के विशेष उत्साह अथवा महत्वाकांक्षा का अभाव था। दो जून भोजन भी बड़े कठिन परिश्रम के बाद प्राप्त होता था। और उधर रोज़गार एवं व्यवसाय के साधन तथा अवसर भी बहुत सीमित थे। इन्हीं परिस्थितियों के कारण पिपासु न तो उच्च शिक्षा प्राप्त कर सके और न कोई ऊंची नौकरी ही ले सके। राजकीय शिक्षा विभाग में एक साधारण अध्यापक के रूप में आप सेवा-निवृत्ति पर्यन्त काम करते रहे। उनके सामने न तो कोई स्थानीय साहित्यिक परम्परा थी और न शुरू में उन्हें अपेक्षित साहित्यिक वातावरण ही मिल पाया। इसलिए हिन्दी-साहित्य का अध्ययन ही उनके लिए एकमात्र प्रेरणा-स्रोत था। सौभाग्य से, कुछ समय बाद (चौथे दशक के आसपास) जम्मू में आरम्भ होने वाली हिन्दी प्रचार और साहित्य रचना की गतिविधियों ने उनको अपने काव्य-कौशल को परिष्कृत एवं परिमार्जित करने तथा और अपनी काव्य-साधना को गतिशील बनाने की प्रेरणा दी। परन्तु खेद है कि हिन्दी सम्बन्धी उक्त गतिविधियां चौथे दशक के समाप्त होते-होते शिथिल एवं क्षीणतर होती चली गईं। इन्ही दिनों पिपासु की नियुक्ति भी जम्मू से बाहर हो गई और फिर आगामी बीस-बाईस वर्षों तक वे बराबर जम्मू से बाहर ही रहे। कहा जा सकता है कि यदि उक्त 'हिन्दी लहर' मन्द न पड़ती और पिपासु लम्बी अवधि तक जम्मू से बाहर स्थानान्तरित न होकर जम्मू में ही रहते तो उनकी कविता का स्वरूप भी हिन्दी कविता के नए तेवरों के साथ बदलने में समर्थ होता। परन्तु खेद है कि प्रतिभा रहते हुए भी, अनुकूल वातावरण न मिलने के कारण, वे इस बीच उभरने वाली नई-नई काव्य-दिशाओं एवं भंगिमाओं को पकड़ने में समर्थ नहीं हो सके। ये परिस्थितियां तथा ऐसा वातावरण निःसंदेह किसी प्रकार की प्रतिभा के पनपने में सहायक नहीं हो सकते। और ऐसा होना, उस स्थिति में, और भी कठिन हो जाता है जब आदमी आर्थिक दृष्टि से कड़े संघर्ष में जूझने को विवश हो। परन्तु सब कुछ विरोधी और विपरीत होते हुए भी यदि कोई प्रतिभावान साधनारत रहता है तो उसकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करनी ही पड़ती है।

व्यक्तित्व के नख-शिख

जिस फूल का रूप-रंग और सौरभ आने-जाने वालों के मन को बरबस मोह लेता है, उसकी अलबेली छवि को विकसने और महकने से पहले उपयुक्त भूखण्ड एवं अपेक्षित पानी, हवा और धूप आदि की भी आवश्यकता होती है। तब कहीं जाकर एक पुष्पपादप अपना अन्तर्निहित सर्वस्व पूरी तरह से बिखेर कर देखने वालों को सौन्दर्य और महक से मालामाल करने में समर्थ हो सकता है। एक पुष्प-बीज ही की तरह किसी भी श्रेष्ठ साहित्यकार के भीतर भी प्रतिभा बीज रूप में निहित रहती है। परन्तु जब तक उस प्रतिभा रूप बीज को उपयुक्त वातावरण, साधन अथवा उपकरण उपलब्ध न हों, वह न तो पूरी तरह से खिल सकता है और न महक ही सकता है। और ऐसा सुयोग न मिलने पर वह प्रतिभा-बीज एक बौने एवं अपंग पादप के रूप में ही परिणत होता है। उस पर गिनती के कुछ पुष्प-पल्लव भले ही उग आएं पर उनमें वह रूप-रंग और महक नहीं आ सकती जो पाठक के हृदय को वश में कर सके। एक साहित्यकार की प्रतिभा को भी पूर्णत: पुष्पित एवं पल्लवित होने के लिए बहुत कुछ चाहिए। अध्ययन और मनन के लिए अवकाश जनजीवन का सूक्ष्मता से अवलोकन करने के लिए समय और धन, रहने के लिए (छोटा ही सही पर साफ-सुथरा) घर, परिवार के पोषण के लिए पर्याप्त साधन आदि। एक साहित्यकार के प्रतिभा-बीज के अंकुरण एवं पल्लवन के लिए यही उपकरण हवा, पानी, धूप, उपयुक्त भूखण्ड तथा उर्वरक आदि का काम देते हैं। और फिर एक कवि के लिए तो इन सब साधनों का उपलब्ध होना और भी अनिवार्य होता है। क्योंकि वह स्वभाव से ही, अन्य विधाओं के लेखकों की अपेक्षा कहीं अधिक भावुक, नाजुक मिजाज कोमल हृदय वाला और फक्कड़ प्रवृत्ति का होता है। हल्की सी खरोंच भी उसके प्रतिभा-बीज के पनपने में बाधक हो सकती है।

हमारे पिपासु को भी, इस देश के असंख्य प्रतिभा-बीजों की तरह, उक्त उपकरणों के इस अभाव की पीड़ा को जीवन भर, आखिरी सांस तक झेलना पड़ा। भले ही कड़ी से कड़ी यातना को भी हंस-हंसकर झेल जाने का पिपासु में बड़ा दम था। परन्तु बार-बार साहस बटोरकर, उम्र भर दौड़ते रहने के बाद भी जब उसे

साज़गार माहौल एवं अनुकूल परिस्थितियों के नाम पर कुछ भी नहीं मिला तो उसका प्रतिभा-बीज पादप के रूप में परिणत होकर भी कुछ गिनती के काव्य-पल्लव एवं भाव-प्रसून देकर सूख गया। परन्तु आश्चर्य है कि उन गिनती के फूल-पत्तों में भी रंग-रूप और महक ख़ूब थी। यही कारण है कि जम्मू के साहित्यिक क्षेत्र में वे अपनी गहरी पहचान स्थापित करने में समर्थ हो सके। कहना ही पड़ेगा कि कवि में अपार जिजीविषा एवं संघर्ष करने की प्रबल क्षमता थी। उनके कवि जीवन की यात्रा कदाचित् इसी आशामय संकल्प से आरम्भ हुई थी :

"विश्व सुख-दुःख सुमन कण्टक भूल कर सब;
है युगों की साधना नव गान गाकर;
गान गाकर नव कला निर्माण कर फिर
पा सकूं अमरत्व जग में मान पाकर
इक बनाऊं बाग़ जिस पर मुग्ध नन्दन।"[१]

अपनी इसी जिजीविषा एवं आशावादिता के सहारे ही पिपासु अपने कवि-जीवन के लगभग पैंतीस-चालीस बरस काट सके। वे जीवन भर अभावग्रस्त रहे। देश के असंख्य प्रतिभावान युवकों की भांति वे भी उच्च शिक्षा से वंचित रहे। उनका जन्म भी आर्थिक दृष्टि से एक बहुत ही सामान्य ब्राह्मण परिवार में हुआ था। यह तो उनके कठोर जीवट और सतत स्वाध्याय का परिणाम है कि वे अपने भावोद्‌गारों को छन्दों में बांध सके। भले ही उनके कवि-विहग ने अपना सफ़र— "ली उड़ान सुख-देश खोजते इन आंखों की पांखों ने"[२] कहकर शुरू किया था। मगर आशा एवं उल्लास का पाथेय गठरी में होते हुए भी उन्हें असफलता की आशंका बराबर घेरे रहती थी कि कहीं वे संघर्ष के पहियों तले बीच सफर में ही चरमराकर न टूट जाएं :

"अपने सुख के देव खोजते
ही न खोजते रह जाऊं।"[३]

सुख के देवता की इस लम्बी खोज में कवि को हमेशा निराशा एवं खिन्नता की अनुभूति ही मिली। 'सुख के देवता' के दर्शनों की उसकी उत्कट अभिलाषा अन्त तक केवल अभिलाषा ही बनी रही। सुखान्वेषण की इस दुःखद यात्रा में कवि-मुख से निकली यह सहजोक्ति उसकी मनःस्थिति का करुणापूर्ण चित्र उपस्थित करती है :

"उधर न मिलते देव इधर अर्चन को पूत प्रसून यहां"[४]

१. 'जीवन गान'
२. 'अनजान साधना'
३. 'अनजान साधना'
४. 'जीवनगान'

जीवन की अल्पतम सुविधाओं का अभाव तो बड़े से बड़े साहसी, परिश्रमी एवं जीवट वाले सुदृढ़ व्यक्तित्व को भी तोड़कर रख देता है। फिर एक चिन्तन-मननशील भावुक कवि हृदय भला इन अभावों के सन्मुख कितनी देर टिक सकता था। इस कारण बरसों तक निरन्तर 'सुख-देश' की खोज में कमर कसे चलते रहने के बाद आखिर अभावों ने उसे तोड़ ही डाला; क्योंकि वह पग-पग पर देख चुका था।

"उत्सुक होंठ हुए फूलों को
चुम्बन को पर कांटे पाए।"[१]

जीवन में मिली विडम्बनाओं के कई दुःखद संदर्भों को कवि ने बार-बार बड़ी मार्मिकता से अभिव्यंजित किया है। चुनौतियों के प्रचण्ड शिलाखण्डों के साथ बार-बार टकराकर मानो वह कराह उठा हो :

"पर साहस तो देखो मेरा
जान-बूझ कर विष पीता हूं
विष पीता हूं मरने को, पर
तड़प-तड़प फिर भी जीता हूं"[२]

अपने काव्यलेखन के आरम्भिक दिनों में, जवानी की गरमी में तो कवि असफलताओं और निराशाओं के बड़े से बड़े तूफान को भी हंसकर झेलता रहा। वह उम्र ही ऐसी होती है जिसमें सहज शारीरिक ऊर्जस्विता रहती है। सारा अग-जग हर्षोल्लास भरा, एक बारात के उत्सव जैसा लगता है। पिपासु भी यौवन के दिनों में प्रेम के गीत अलापा करते थे। उन दिनों दो जून भोजन की व्यवस्था भी प्रायः माता-पिता के अनुग्रह से बिना बड़े आयास के हो जाती है। इसीलिए उस आयु में आदमी के मन में किसी कल्पित प्रेयसी की छवि उभरती थिरकती रहती है। पिपासु के मुख से भी प्रणयोद्‌गारों की ऐसी ही गुनगुनाहट सुनाई देती रहती थी।

"मैं प्रेमी हूं कर लेने दो
दो पल सजनी प्यार मुझे।"[३]

जम्मू के काव्यानुरागियों के बीच पिपासु एक अत्यन्त लोकप्रिय कवि थे। अपने भावोत्तेजक, श्रृंगारिक काव्योच्छ्‌वासों के कारण मित्रजन कभी-कभी उन्हें हंसी-हंसी में 'रसिक कवि' अथवा 'रसिया कवि' की उपाधि दे डालते थे। प्रायः देखने में आता है कि साहित्यिक संस्थाओं द्वारा आयोजित कवि गोष्ठियों में बार-बार अनुरोध करने पर भी कवियों की उपस्थिति बहुत ही कम हुआ करती है।

---

१. अनजान साधना
२. अनजान साधना
३ दो चांद, पृष्ठ १

परन्तु लगभग १९६३-१९६४ से लेकर देहावसान पर्यन्त वे नगर में आयोजित हर एक कवि-गोष्ठी अथवा कवि-सम्मेलन में उपस्थित रहते थे। कभी-कभी किसी संयोजक द्वारा भूल से कहीं उन्हें निमन्त्रण नहीं भेजा जाता तो वे किसी अन्य मित्र से तद्‌विषयक सूचना प्राप्त होने पर भी वहां पहुंच जाते थे। कविता श्रवण अथवा कविता-पाठ के लिए आप किसी प्रकार की औपचारिकता की अपेक्षा नहीं करते थे। यह बात नहीं कि पिपासु को जीवन में और कोई महवत्पूर्ण काम ही नहीं होता था, अथवा उनकी कोई समस्या या व्यस्तता ही नहीं थी। बात असल में यह थी कि एक तो उनके जीवन में कविता का स्थान सर्वोपरि था; अपनी किसी भी दूसरी व्यस्तता पर वे कविता लिखने, पढ़ने अथवा सुनने को प्राथमिकता देते थे। दूसरा कारण यह था कि वे किसी भी स्थानीय साहित्यिक संस्था के साथ कभी भी प्रतिबद्धता की सीमा तक नहीं जुड़े थे। वे तो मां सरस्वती को पूर्णतः समर्पित थे। इसी कारण वे साहित्य के क्षेत्र में किसी प्रकार की खूंटेबाज़ी अथवा साम्प्रदायिकता से प्रायः दूर रहा करते थे। साहित्यकारों के बीच ऐसी प्रवृत्ति को वे अच्छी नजर से नहीं देखते थे। पिपासु को समीप से जानने वालों को कविता के प्रति उनकी गहरी लगन को देखकर उनसे कभी-कभी ईर्ष्या सी होने लगती थी। किसी मित्र के निवास स्थान पर, किसी संस्था की वैठक या किसी चाय की दुकान पर बैठे हुए कविता सुनाने के लिए उन्हें कभी भी वहुत अधिक अनुरोध नहीं करना पड़ता था। इधर किसी के मुंह से निकला 'पिपासु जी, कुछ सुनाइये' और उधर उन्होंने कविता पाठ आरम्भ कर दिया। और कभी-कभी तो जब वहां पर उपस्थित कोई अन्य कवि महोदय वार-वार अनुरोध करने पर भी कुछ सुनाने के लिए संकोच या टालमटोल करते तो पिपासु झट बीच में बोल पड़ते—"अच्छा भाई, ये नहीं सुनाते तो हम ही कुछ सुना देते हैं।"

आर्थिक दृष्टि से दुर्बल होते हुए भी पिपासु ने कभी किसी पर यह प्रकट नहीं होने दिया कि वे धनाभाव के कारण दुःखी हैं। जब देखो वही अलबेली मुस्कानहोंठों पर लिये हुए मिलते। दुःख और अभावों की यातना के बीच भी हंस-खेल लेना बड़े साहस का काम होता है। लेकिन जब भी कहीं उनकी आंखों में अवसाद की गहरी रेखा किसी को सहसा नजर आ जाती तो ऐसा लगता मानो जैसे उन्हें अपने पकड़े जाने का अहसास हो गया हो। तब वे झट से बात का रुख बदलकर काव्य चर्चा की ओर मोड़ देते। स्कूल अध्यापक के मामूली वेतन पर पूरा जीवन काटने पर भी उनके मुख पर कभी असंतोष की झलक दिखाई नहीं देती थी। दो अढ़ाई कमरों वाला छोटा सा मकान उन्होंने पैतृक विरासत में मिले जमीन के एक छोटे से टुकड़े पर सेवानिवृत्त होने के उपरान्त बनवाया था। कच्चे फ़र्श और बिना पलस्तर की दीवारों वाले उनके घर में बैठे बैठे सहसा पिपासु की स्मृतियों में खो सा गया। सामने उनका ज्येष्ठ पुत्र रामनरेश और उनके भानजे वीरेन्द्रकुमार बैठे थे। सभी

के पास जैसे पिपासु जी को लेकर कहने को बहुत कुछ था; पर न जाने क्यों सभी मौन साधे हुए थे। इतने में रामनरेश उठकर एक टूटा फूटा छोटा सा टीन का सूटकेस उठा लाया और उसमें से उसने पिपासु जी की कुछ पांडुलिपियां, कुछ चित्र और कुछ डायरियां मेरे सामने रख दीं। सरस्वती के उपासक कवि की बस इतनी सी पूंजी थी। कल्पना के नव्य-भव्य भवनों के स्रष्टा का बस यही अवशेष था। सभी की आंखें भीगी हुई थीं। रामनरेश से लेखक ने कई तरह के प्रश्न किये पर वह बेचारा बहुत कम बता पाया। वह बेचारा बोलता भी क्या? जब पिता के प्यार-दुलार में घूमने-झूमने के दिन आये तो पिपासु उसके भविष्य को लेकर मन में बनाए सोने चांदी के कल्पना-चित्रों को साथ लेकर अपनी ऐहिक लीला समाप्त कर गए, और पीछे छोड़ गये अपनी स्मृति के रूप में वह छोटा सा घर और उन कागज़ों पर अंकित अपने कुछ प्रतिभा-चिह्न। वहां पर बैठे बैठे लग रहा था कि पिपासु अभी कहीं से निकल आयेंगे और अपने काव्य निष्यन्दों से हमें रसाभिभूत कर डालेंगे। वहीं बैठे बैठे मुझे सहसा उनकी मृत्यु के दो तीन दिन बाद हुई एक शोकसभा का स्मरण हो आया। नगर के प्रतिष्ठित लेखक बन्धुओं के अतिरिक्त वहां प्रदेश के कुछ गण्य-मान्य व्यक्ति भी आये हुए थे। उपस्थिति काफ़ी संख्या में थी। पिपासु के सहकर्मियों ने अपने अपने मार्मिक संस्मरणों और भाव-भीनी श्रद्धांजलियों की झड़ी सी लगा दी। नगर की विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने दिवंगत कवि के शोकाकुल परिवार के साथ हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हुए उसे आर्थिक सहायता देने के लिये कुछ ठोस कदम उठाने का श्लाघ्य संकल्प लिया। वहां उपस्थित, नगर के लेखकेतर समर्थ भद्रपुरुषों ने उनके परिवार को नियमित आर्थिक सहायता की व्यवस्था करने का वचन दिया। राज्य के एक भूतपूर्व मंत्री महोदय तो पिपासु के देहावसान से इतने द्रवित हो गये कि उन्होंने अपने भाषण में कहा—"मुझे आज यह देखकर बहुत दुःख हुआ है कि एक ब्राह्मण भी इतना निर्धन हो सकता है। मैं इनके परिवार को नियमित रूप से आर्थिक सहायता की व्यवस्था करने का वचन देता हूं।" सभा की समाप्ति पर हमें यह देखकर संतोष हुआ कि एक दिवंगत कवि के प्रति साहित्यकारों के ही नहीं समाज के अन्य वर्गों के लोगों के मन में भीअपार सहानुभूति और श्रद्धा है।

पिपासु के व्यक्तित्व के नख-शिख एवं आकार-प्रकार को स्थिर करने के लिये लेखक ने जिन जिन व्यक्तियों से भेंट की उनसे कोई भी ठोस एवं उल्लेखनीय तथ्य हाथ नहीं लगा। उनके परिवार के बीच पहुंच कर, जहां से कवि के जीवन और व्यक्तित्व को लेकर पर्याप्त उपयोगी सामग्री मिलने की आशा थी, मुझे पूर्णतया निराश होना पड़ा। कवि के भानजे वीरेन्द्रकुमार जी के सौजन्य से जब मैंने पिपासु के घर में प्रवेश किया तो वहां की दशा देखकर मन को धक्का सा लगा। जुलाहका मुहल्ला जम्मू के आख़िरी छोर पर एक ऊंचे टीले के ऊपर दो अढ़ाई

कमरों वाले, कुछ पक्के कुछ कच्चे मकान में जरूरत की चीजों के नाम पर लगभग कुछ भी दिखाई नहीं दिया। कवि की धर्मपत्नी तब विक्षिप्तावस्था में थीं। उनसे कुछ पूछने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। उस समय वहां पर कवि-पत्नी के अतिरिक्त कवि का सबसे बड़ा पुत्र रामनरेश और उसका छोटा भाई ही था। छोटा तो बेचारा कुछ दिमाग़ी अस्वस्थता के कारण कुछ बताने लायक ही नहीं था इस लिये उनके पन्द्रह सोलह बरस के बड़े पुत्र से कुछ प्रश्न पूछने का प्रयत्न किया। रामनरेश स्थानीय गवर्नमेंट प्रेस में दैनिक वेतन पर, उन दिनों मज़दूरी कर रहा था। राज्य की कला, संस्कृति व साहित्य अकादमी की ओर से जो ७५/-रुपये की मासिक पेन्शन मिला करती थी जो अभी तक उनके परिवार को मिल रही है। और सरकार कीओर से मिलने वाली मरणोपरान्त पारिवारिक पेन्शन भी तब बड़े पुत्र के अठारह वर्ष का होने के बाद, शीघ्र ही बन्द होने को थी। कवि की एक बेटी भी है। वीरेन्द्रकुमार जी से पता चला कि वह बहुत ही सुशील और बुद्धिमती है। वह उस समय घर पर नहीं थी। रामनरेश भी पिपासु के विषय में कोई उल्लेखनीय जानकारी नहीं दे सका। क्योंकि कवि की मृत्यु के समय वह काफ़ी छोटा रहा होगा। अपनी स्मृति के आधार पर उसने केवल इतना ही बताया कि पिपासु देर रात तक अकेले बैठ छन्द-रचना किया करते थे। लिखते समय तो उन्हें नींद और भोजन आदि का भी ध्यान नहीं रहता था। रामनरेश से बातचीत करते करते मैं कुछ याद करके सहसा चौंक सा उठा। मुझे कवि के १९६७ में प्रकाशित उनके दूसरे कविता-संग्रह 'सीमा का पंछी' के समर्पण-पृष्ठ पर लिखे ये शब्द स्मरण हो आए : ''मेरे आत्मज रामनरेश तुम्हें कुछ और दूंगा, अभी मैं यह रचना 'सीमा का पंछी' अपने मित्र-बंधु···'' मुझे यह देखकर गहरा आघात लगा कि अपने प्यारे बेटे को 'कुछ और' दे सकने से पूर्व ही वे इस संसार से उठ गये और आज उनकी आशाओं का सहारा बेचारा रामनरेश लगभग अशिक्षित रहकर अपने भाई बहनों की उदर पूर्ति के लिये कठिन संघर्ष में जूझ रहा है। कई तरह के प्रश्न पूछने पर भी रामनरेश जब कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे पाया तो वहीं बैठे बैठे वीरेन्द्र-कुमार से बातचीत हुई। उन्होंने बताया कि पिपासु अभी बहुत छोटे थे जब उन्हें पिता की छाया से वंचित होना पड़ा। मां ने साधनों के अभाव के कारण बड़ी कठिनता से उनका पालन पोषण किया। मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त करके काफ़ी समय बेकारी में काटा। राज्य के शिक्षा विभाग में अध्यापक के रूप में नियुक्ति के बाद ही आप हिन्दी की ओर आकृष्ट हुए, मैट्रिक तक की शिक्षा तो आपने उर्दू के माध्यम से प्राप्त की थी। अपनी लगन और अपार हिन्दी-प्रेम के परिणामस्वरूप ही आप बहुत शीघ्र हिन्दी प्रभाकर की परीक्षा उत्तीर्ण कर सके। तदुपरान्त सतत स्वाध्याय से आप अपने ज्ञानार्जन में वृद्धि करते चले गये। पिपासु ने कविता लिखना कब आरंभ किया इसका उल्लेख अथवा किसी तरह का संकेत उन्होंने

स्वयं कहीं पर नहीं दिया है। और न ही उनके जीवनकाल में, उनसे अनेक बार भेंट होने पर भी, इस बात को लेकर उनसे कोई चर्चा ही हुई। हां, इतना निश्चित है कि चौथे दशक के प्रारंभिक वर्षों में उनकी लेखनी काफ़ी सध चुकी थी और उनका नाम तत्कालीन स्थानीय हिन्दी-कवियों और श्रोताओं एवं कवितानुरागियों में वहुचर्चित हो चुका था। पिपासु संवंधी एक संस्मरण जिसका कई जगह पहले भी उल्लेख हो चुका है यहां फिर दुहराया जा रहा है। १९४०-१९४२ के आस-पास की बात है। लेखक उस समय बहुत छोटा था। एक दिन जम्मू के पुरानी मण्डी नामक स्थान पर एक कवि सम्मेलन अथवा कोई अन्य साहित्यिक समारोह हो रहा था। वहां बहुत से कवियों ने कविता-पाठ किया परन्तु उन सब में एक ओजस्वी स्वर ऐसा था जिसकी रचना को बहुत सराहा गया। उर्दू के मुहावरे में कहा जाए तो उसने मुशायरा ही लूट लिया था। वह ओजस्वी कवि पिपासु ही था। बहुत समय बीत गया। इस पुस्तक का लेखक स्वयं भी काव्य-रचना का अभ्यास करने लग गया। उसकी छवि अक्सर स्मृतिपटल पर कौंध जाया करती परन्तु वह कवि बीस पचीस वर्षों तक फिर कहीं दिखाई नहीं पड़ा। जम्मू के साहित्यिक क्षेत्र में बहुत पूछने पर भी उसके विषय में कोई जानकारी नहीं मिल सकी। लगभग १९६४-१९६५ में एक स्थानीय हिन्दी कविगोष्ठी में एक वयोवृद्ध कवि का कविता-पाठ सुनकर सहसा स्मृतिपटल पर पुराना देखा हुआ एक चेहरा कौंध सा गया। और जब यह पता चल गया कि सम्मुख बैठा कवि और कोई नहीं, वही पिपासु ही हैं तो बहुत प्रसन्नता हुई। जैसे कोई खोई हुई वस्तु मिल गई हो। फिर तो उनके साथ उनकी मृत्यु पर्यन्त बराबर सम्पर्क बना रहा। वीरेन्द्रकुमार जी ने बताया कि इस बीच, लगभग बीस बाईस वर्ष उनकी नियुक्ति जम्मू से बाहर सुदूर गावों-कस्बों में ही होती रही। एक कवि की प्रतिभा को विकसनशील बनाए रखने के लिये जिन जिन उपादानों की आवश्यकता रहती है उनमें उपयुक्त साहित्यिक वातावरण सबसे आवश्यक होता है। बहुत कुछ कर सकने वाली उम्र में बीस बाईस बरस तक गावों-कस्बों में भटकते रहने के कारण उन्हें अपेक्षित साहित्यिक वातावरण के नाम पर कुछ भी नहीं मिल पाया। कदाचित् यही कारण है कि पिपासु छठे दशक की आधुनिक कविता के दिनों में भी तीस चालीस बरस पुरानी काव्य-पद्धति के साथ जुड़े रहे। चाहते हुए भी वे कविता के वदले आयामों के साथ अपनी सृजनशीलता की संगति नहीं बिठा सके। इस दिशा में उन्होंने जब भी कोई प्रयास किया, उसमें वे सफल नहीं हो सके। इसी का परिणाम था कि वे नवीन काव्य-चिन्तन के सीधे सम्पर्क के अभाव के कारण परम्परा से ही बंधे रहे। इसी लिये परम्परा उनके रक्तमांस में रचती चली गई और फिर उससे मुक्ति पाना उनके बस से बाहर हो गया। इस विषय को लेकर कवि के साथ इस लेखक की कई वार बातचीत भी हुई। उनकी बातों से ऐसा

आभास मिला कि उनकी यह प्रबल धारणा बन चुकी थी कि केवल छन्दोबद्ध रचनाएं लिखने के कारण ही कवि बन्धु उन्हें परम्परावादी समझते हैं। पर बात वास्तव में यह नहीं हैं। आज भी तो गीत लिखे जा रहे हैं। पुरन्तु पुराने और नये गीतों में आज जो अन्तर दिखाई देता है वह उतना शैली का नहीं जितना कथ्य के विषय और उसकी अभिव्यक्ति का है। कई बार जब उनसे यह कहा जाता कि नये नये विषयों को नये नये ढंग से क्यों नहीं अभिव्यंजित करते तो उनका प्रायः हर बार एक ही उत्तर होता—"आज की कविता भी भला कोई कविता है? इसमें कविता का एक भी गुण दिखाई नहीं पड़ता। इस 'रबड़ छन्द' में भी भला कोई कविता लिखी जा सकती है, जिसे जहां चाहो, जैसे चाहो, जिधर चाहो तोड़ लो, मरोड़ लो।"

आधुनिक कविता के विषय में उनकी उक्त धारणा इतनी प्रबल थी कि बड़े से बड़ा तर्क भी उन्हें उससे विचलित नहीं कर सकता था। अपनी 'कविता-अकविता" शीर्षक रचना में, जो लगभग मुक्त छन्द की कविता कही जा सकती है, कवि ने नई काव्य-पद्धति का उपहास उड़ाते हुए कहा है—

"भले अकविता कहे कोई
पर कहे वही निज कविता रानी
जो चन्दा से नहीं
वदन की उपमा देगा
फुलके से ही
क्योंकि फुलका गोल गोल है
श्वेत श्वेत है
भूख मिटा सकता है तन की।"[1]

नवीनता के आग्रह को छोड़कर यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो अपनी इस धारणा के प्रति उस दुर्भेद्य प्रतिबद्धता के लिये वे स्वयं दोषी नहीं थे। वास्तव में उनकी कविता का विकास लगभग देहाती और असाहित्यिक वातावरण में हुआ था। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यदि उनकी प्रतिभा को समय पर अनुकूल वातावरण मिला होता तो निःसन्देह वे अपनी समसामयिक कविता की दिशा से कभी पीछे न रहते। और न ही परम्परा के प्रति उनकी निष्ठा दुराग्रह की सीमा तक पहुंच जाती। वास्तव में हम लोग लेखक के व्यक्तित्व तथा उसकी प्रतिभा के विकास की पृष्ठभूमि का समुचित अवलोकन किये बिना उसके कृतित्व को आधुनिकता के तराजू पर तोलने और उसकी रचनाओं में समसामयिक अपेक्षित तत्वों को टटोलने लग जाते हैं। इस बात को कुछ इस तरह से और अधिक स्पष्ट

१. 'जीवन गान'

किया जा सकता है। पिपासु की जान-पहचान वाले किसी भी व्यक्ति से यह तथ्य छिपा हुआ नहीं है कि वे आजीवन आर्थिक संकट की चक्की में पिसते रहे। समाज और व्यवस्था ही नहीं अपने साहित्यकार बन्धुओं से भी उन्हें स्नेह, श्लाघा और प्रोत्साहन के स्थान पर उपेक्षा, कटाक्ष तथा व्यंग्यबाण ही मिले। परन्तु यह सब होते हुए भी उनकी कविता का प्रमुख स्वर शृंगार ही रहा। जीवन में मिली ढेर सी उपेक्षा और अपनी देखी-झेली हुई आर्थिक विषमता के बावजूद वे शृंगारेतर विषयों की ओर अधिक ध्यान नहीं दे सके। हां, इससे उनके शृंगारपरक उद्गारों में अवसाद की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि अवश्य होती जा रही थी :

"जब टूट गया मन का प्याला
जब उजड़ गई है मधुशाला
तब मधुबाला के हाथों से
मधु पीने का उन्माद न कर
वे प्यार के दिन अब याद न कर"[1]

पिपासु से भेंट होने पर कभी भी ऐसा नहीं लगता था कि उन्हें किसी प्रकार का कष्ट अथवा मानसिक यातना झेलनी पड़ रही थी। उनके चेहरे पर हर समय एक मंद मुस्कान थिरकती हुई नजर आती थी। उनकी जुबान से कभी भी दु:ख-दैन्य अथवा दूसरों के लिये शिकायत सुनाई नहीं देती थी। उनके साथ भेंट करने वाले, उनके समसामयिक साहित्यकार बन्धुओं का प्राय: यही अनुभव रहा है कि वे काव्य-साधना को पूर्णतया समर्पित थे। उनके व्यक्तित्व में, उनके साथ बात चीत के दौरान, काव्येतर विषयों के प्रति उनकी रुचि होने का कोई क्षीण सा आभास नहीं होता था। रेडियो तथा अन्य स्थानीय साहित्यिक संस्थाओं से (जहां से उन्हें आर्थिक लाभ हो सकता था) उन्हें पूरा प्रोत्साहन नहीं मिला। एक बार रेडियो पर एक ऐसे कार्यक्रमाधिकारी की नियुक्ति हुई जो आधुनिक साहित्याभिरुचि रखते थे। उनके कारण कई वर्षों तक इन्हें रेडियो के कार्यक्रमों में भाग नहीं लेने दिया गया, परन्तु इससे भी कवि अपनी काव्य-साधना में संलग्न रहे। उपेक्षा और अभावों से मिलने वाली पीड़ा और यातना को उन्होंने, प्रत्यक्ष रूप से अपनी कविता में नहीं आने दिया। हां, इस सबके लिये, वे अपने परमेश्वर से कभी कभी शिकायत जरूर कर लेते थे :

और न लो प्रभु कठिन परीक्षा
रच उद्यान मनोहर तुमने
सुन्दर-सुन्दर फूल उगाए
गुन-गुन करते भ्रमर सांवले

---

१. 'सीमा का पंछी' पृष्ठ २३

उन पर तुमने आन बिठाए
क्या कहते हो, केवल उनका
रूप निहारें ? प्यासे रहकर !
छलक रहा किस हेतु कहो तो
मधु सुमनों में अहरह बहकर
मेरे प्रभु, मेरे प्रभु तुम ही
कुछ तो इसकी करो समीक्षा
और न लो प्रभु कठिन परीक्षा।''[१]

छठे दशक में कवि के साथ अनेकों बार बैठने का अवसर मिला। बहुत बार कविगोष्ठियों और कवि-सम्मेलनों में उनकी कविता सुनने का अवसर मिला। किसी कवि-मित्र के घर पर या किसी चाय की दुकान में बैठकर भी कविता का सुनना-सुनाना चलता था। वहां जब भी नई कविता अथवा नई कविता की तरह की कविता पढ़ने वाले कवियों के मध्य उन्हें कविता-पाठ करने के लिए कहा जाता तो वे पूरे आत्मविश्वास एवं आत्मगौरव के साथ कविता पढ़ते। उनमें कभी भी परम्परावादी होने की हीन भावना का आभास नहीं मिलता था। समसामयिक चिन्तन की आधुनिक शैली की कविताओं के बीच वे अपनी पुरानी पद्धति की कविता को, हंसते-मुस्कुराते, कुछ इस तरह से फिट कर जाते कि सुनने वालों से बरबस वाह-वाह लूट लेते। इसका कारण यह था कि वे किसी तरह के भी भाव व विचार को पूरी तरह से अभिव्यंजित करने की क्षमता रखते थे। निःसन्देह वे शब्द चयन, शब्द विन्यास तथा छन्द योजना में बहुत ही सिद्धहस्त थे। परन्तु नई कविता की चर्चा होने पर या किसी कविगोष्ठी में अपनी कविता पर होने वाली तीखी आलोचना को भी वे बड़े साहस से, सहज-सरल भाव से, माथे पर बिना कोई शिकन लाए, सुन लेते थे और उचित आलोचना को स्वीकार भी कर लेते थे। ऐसी बातों को लेकर किसी प्रकार की कटुता को मन में बनाए रखना उनके स्वभाव में नहीं था। परम्परागत काव्य-पद्धति पर होने वाली आलोचना को वे एक चुनौती समझते थे और अपनी अगली रचनाओं से जैसे यह प्रमाणित करना चाहते थे कि कोई भी आक्षेप अथवा कटूक्ति उन्हें अपने पथ से विचलित नहीं कर सकती।

पिपासु के व्यक्तित्व का एक और बड़ा गुण उनकी सहजता एवं सरलता थी। निश्छलता तो मानो उन्हें मां सरस्वती से वरदान के रूप में मिली थी। कभी-कभी तो वे दूसरों से मिली उपेक्षा, अवहेलना और भर्त्सना तक की गहराई में न जाकर उसे चुपचाप सुन लेते और झेल जाते।

पिपासु के व्यक्तित्व पर कुछ और अधिक जानकारी प्राप्त करने की इच्छा थी। उनके भानजे वीरेन्द्रकुमार और पुत्र रामनरेश के साथ तो भेंट हो चुकी थी

१. 'सीमा का पंछी' पृष्ठ २३

परन्तु जिस दिन कवि के घर पर जाना हुआ था, उस दिन कवि के साथ वाले मकान में रहने वाले उनके अनुज कृष्णदत्त जी की बहुत प्रतीक्षा करने पर भी उनसे भेंट न हो सकी। कुछ दिन बाद वीरेन्द्रकुमार जी उन्हें लेकर लेखक के निवास स्थान पर आए। वहां वीरेन्द्र कुमार और कृष्णदत्त दोनों ने पिपासु के व्यक्तित्व के जिस पक्ष को बार-बार दोहराया, वह थी उनकी सरलता, सादगी, निश्छलता, निर्धनता और इस सब के रहते भी जीवन और संघर्ष में दृढ़ आस्था और एक अद्‌भुत ज़िन्दादिली। पिपासु के जीवन के इन पक्षों से लेखक तो बहुत पहले से परिचित था परन्तु कवि के सहोदर के मुख से यह जानकर इस धारणा की और भी पुष्टि हो गई।

श्री कृष्णदत्त ने बताया कि मैट्रिक पास करके कुछ दिन नौकरी के लिए इधर-उधर भटकने के बाद जब उन्हें मधुमक्खी-पालन की किसी संस्था में नौकरी का अवसर मिला तो उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया। अपनी माता से कहने लगे : "मां, मैं शहर फूंकने वाली नौकरी कभी नहीं करूंगा।" कवि के इस कथन में उसके कवि-हृदय की कोमलता और दयार्द्रता टपकती है। पिपासु का विवाह, जब वे पैंतालीस वरस के थे, १९६२ में हुआ। इतनी देर से विवाह होने का कारण पूछने पर श्री कृष्णदत्त ने बताया कि कवि के फक्कड़ और मस्तमौला स्वभाव तथा निर्धनता और जरूरत से ज्यादा शराफत के कारण ही उनका विवाह बहुत देर के बाद हो सका। एक दो जगह बात चली भी मगर बीच में ही टूट गई। एक जगह तो बात पक्की हो चुकी थी और विवाह की तैयारी भी होने लगी थी। पर बीच ही में लड़की वालों की ओर से किसी ने कवि से पूछा—"ज़ेवर कितने सोने के बनाए हैं ?" तो पिपासु निश्छल भाव से बोल उठे "भाई, मैं तो एक ग़रीब आदमी हूं, भला सोना-वोना कहां से लाऊंगा ?" यह सुनकर लड़की वालों ने बात को बीच ही में तोड़ दिया।

पिपासु की शिक्षा काफी आर्थिक कठिनाइयों के बीच हुई थी। वे मैट्रिक तथा प्रभाकर तक ही शिक्षा प्राप्त कर सके। मैट्रिक तक की शिक्षा उन्होंने उर्दू के माध्यम से प्राप्त की थी। परन्तु हिन्दी के प्रति उनकी असीम भक्ति और अपार प्रेम के कारण ही वे, उर्दू के विद्यार्थी होते हुए भी हिन्दी प्रभाकर परीक्षा उत्तीर्ण कर सके। कई बार, बातचीत के दौरान, वे स्वयं भी इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते थे। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—"मैट्रिक तक उर्दू का विद्यार्थी होते हुए भी न जाने किस आन्तरिक प्रेरणा से मैं हिन्दी में काव्य-सृजन की ओर उन्मुख हुआ।।" कृष्णदत्त जी ने बताया कि पिपासु ने सर्वप्रथम उर्दू में अपनी कलम को आजमया था। वे पहले 'मुतलाशी' उपनाम से उर्दू में काव्य रचना किया करते थे। परन्तु बाद में वे हिन्दी की ओर कुछ इस तरह बढ़े कि फिर उर्दू की ओर मुड़कर देखा भी नहीं।"

कृष्णदत्त जी ने बताया कि कविता लिखने के साथ-साथ आप संगीत और नाटक में भी बहुत रुचि लेते थे। शुरू में वे स्थानीय नाटक-क्लबों में सक्रिय रूप से भाग लिया करते थे। संगीत में तो उनकी रुचि इतनी प्रगाढ़ थी कि एक स्थान पर उन्होंने अपने समय के प्रसिद्ध संगीतज्ञ श्री जिया लाल वसन्त[1] को अपना कविता-गुरु माना है। एक बार उन्होंने अपने कुछ उत्साही मित्रों के साथ मिलकर श्री रघुनाथ मन्दिर जम्मू में 'रामलीला नाटक क्लब' नामक संस्था की स्थापना भी की थी।

इस भेंट में श्री कृष्णदत्त और श्री वीरेन्द्रकुमार ने पिपासु की आर्थिक कठिनाइयों के कुछ बहुत ही करुण एवं मर्मस्पर्शी प्रसंग सुनाए। राज्य के शिक्षा विभाग से सेवानिवृत्ति के उपरान्त कुछ समय के लिए आपको स्थानीय सुपर बाजार में, एक सज्जन की सहायता से, नौकरी मिल गई। परन्तु कवि-सुलभ भुलक्कड़ स्वभाव के कारण, पहले ही महीने में उनसे सौ रुपये का एक वाउचर गुम हो गया। परेशानी और घबराहट में वे अपने भानजे वीरेन्द्रकुमार के पास गए और कहा—"तुम्हारे पास एक बहुत जरूरी काम से आया हूं, इन्कार न करना, मुझसे सौ रुपये का एक वाउचर गुम हो गया है। अगर मैंने सौ रुपये जल्दी ही वहां न दिए तो मेरी नौकरी चली जाएगी और इस तरह मुझे अपने घर का खर्चा चलाना दूभर हो जाएगा। मुझे जल्दी से सौ रुपये दे दो, मैं बाद में लौटा दूंगा।" इस तरह सौ रुपये की एक तुच्छ रकम का वाउचर खो जाने की घबराहट वीरेन्द्रकुमार से सौ रुपया लेकर ही दूर हुई। इसी प्रकार जब उनकी पेन्शन की मंजूरी में देरी हो गई तो वीरेन्द्रकुमार की सहायता से छः सौ रुपये सूद पर उधार लेकर उन्होंने कुछ समय तक घर का ख़र्च चलाया। पेन्शन मिलने पर सबसे पहले उन्होंने उधार की रकम सूद के समेत चुकाई।

पिपासु का व्यक्तित्व वास्तव में एक अबोध शिशु जैसी मासूमियत लिये हुए था। वे एक श्रेष्ठ कवि तो थे परन्तु जीवन की बहुत सी व्यावहारिक बातों का उन्हें किंचित् भी ज्ञान नहीं था। यदि वे थोड़े भी व्यावहारिक होते तो अपनी नौकरी की लगभग सारी की सारी अवधि में जम्मू नगर से दूर गांवों-बस्तियों में घूम-भटक कर न गंवा देते। अपनी नौकरी के अन्तिम वर्षों में (१९६३-६४) कहीं जाकर उनका स्थानान्तरण जम्मू नगर में हुआ। अपनी नियुक्ति से लेकर तब तक वे बराबर जम्मू से बाहर-बाहर ही रहे। मीरपुर सिद्धड़, गौर, सुनैल और कटरा आदि गांवों में ही उन्होंने अपना सारा का सारा यौवनकाल व्यतीत कर दिया। देहात के सहज-सरल परन्तु पिछड़े हुए वातावरण में रहने के कारण उनमें शहर की ज़िन्दगी जीने के लिए अपेक्षित व्यवहार-चातुर्य और चौकन्नापन नहीं आ

---

१. 'दो चांद'—अपनी बात—पृष्ठ ११

सका। यही कारण है कि जम्मू में अपने स्थानान्तरण के दो-तीन वर्ष बाद तक भी उन्हें यह मालूम नहीं हो सका कि जम्मू में कोई कला, साहित्य, संस्कृति तथा भाषा अकादमी नाम की भी कोई संस्था विद्यमान है; जो स्थानीय लेखकों को अपनी रचनाओं के प्रकाशन के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करती है। श्री कृष्णदत्त ने बताया कि पिपासु डोगरी के प्रसिद्ध कवि केहरि सिंह मधुकर के साथ प्रातःकाल भ्रमण के लिए जाया करते थे। वे बड़े भोर तवी की ओर निकल जाते और रास्ते में काव्य-चर्चा हुआ करती। एक दिन मधुकर ने ही उन्हें प्रकाशनार्थ मिलने वाली आर्थिक सहायता के विषय में बताया। और इसी के परिणामस्वरूप कुछ समय बाद, वे 'दो चांद' नाम से अपना प्रथम काव्य-संकलन प्रकाशित करने में समर्थ हो सके।

कवि के दोनों प्रकाशित काव्य संग्रहों पर 'उमा-उर्मिला प्रकाशन' छपा देखकर कई बार सोचा कि इस नाम को देने का क्या कारण है? इस जिज्ञासा का समाधान भी कृष्णदत्त जी ने किया। उन्होंने बताया कि उमा पिपासु जी की अपनी बेटी का नाम है और उर्मिला उनकी (कृष्णदत्त जी की) बेटी का नाम है। बाद में अकादमी की ही आर्थिक सहायता से वे अपना दूसरा काव्य संकलन 'सीमा का पंछी' प्रकाशित कर सके।

चारों ओर से मिली उपेक्षा, अवहेलना तथा आर्थिक अभावों की दारुण यातना से कवि को आखिरी सांस तक क्षण भर के लिए भी मुक्ति नहीं मिली। यही कारण है कि उनकी अधिकांश रचनाओं में दुःख और अवसाद की मात्रा अधिक है। परन्तु कवि का साहस देखिए कि इस सबको "जिस दिन से ही उद्‌गम हुआ/आहार मेरा ग़म हुआ"[१] कहकर झेलता चला गया। वह जीवन में मिलने वाले ढेर सारे जहर को चुपचाप, बिना कोई शिकायत किए, पीता रहा .

"जीवन चषक जब दुःख सुरा से भर लिया
उन्माद में गाया, कभी रो भर लिया।"[२]

नौकरी के दौरान बीस-पचीस वर्षों का समय, जो कवि ने जम्मू से बाहर-बाहर व्यतीत किया, उससे उनका सम्पर्क जम्मू में चलने वाली साहित्यिक गतिविधियों से टूटकर रह गया। यही नहीं, ग्रामीण स्कूलों में, जहां-जहां उन्हें रहने का अवसर मिला, वहां पर, स्कूलों के छात्रोपयोगी छोटे-छोटे पुस्तकालयों को छोड़ कोई बड़ा पुस्तकालय नहीं था और न हिन्दी की समसामयिक पत्र-पत्रिकाएं ही उन्हें मिल सकती थीं जिनका अध्ययन उनके कवि के अपेक्षित विकास के लिए बहुत ज़रूरी था। इस बीस-पचीस वर्ष की अवधि में वे स्थानीय एवं

---

१. 'दो चांद', पृष्ठ १६
२. वही, पृ० १६

देशव्यापी साहित्यिक गतिविधियों से पूर्णतया विच्छिन्न होकर रह गए थे। यदि इस बीच उन्हें कुछ समय के लिए जम्मू में रहने का अवसर मिलता तो निःसन्देह वे हिन्दी कविता की बदलती दिशाओं को पकड़ने में समर्थ हो जाते। पिपासु में अपेक्षित प्रतिभा, साहित्यिक विवेक, भाषा तथा छन्द-ज्ञान की कोई कमी नहीं थी। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनमें अपने लेखन की दिशा को अभीष्ट मोड़ देकर काव्य-सृजन करने की सामर्थ्य का अभाव नहीं था। जब उनका स्थानान्तरण जम्मू में हुआ तो उन्होंने बहुत बार कविता की समसामयिक दिशा को पकड़कर चलने का प्रयास किया। लेकिन अब वह उम्र बीत चुकी थी जब आदमी पिछड़ जाने पर सही दिशा के लिए दौड़-धूप कर सकता है। शायद आयु के व्यवधान को वे कुछ न समझते परन्तु आर्थिक अभावों की चिन्ता ने उन्हें भीतर ही भीतर तोड़ कर रख दिया था। अपनी इस टूटन को वे बहुत ही यत्न से छिपाते थे परन्तु वह फिर भी प्रकट हो ही जाया करती थी।

ऊपर के इस विवेचन से जो बहुत ही दुःखद तथ्य सामने आए हैं, उन्हें देखते हुए हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पिपासु को, एक कवि के अनुरूप जिस तरह का शान्त, सहज, सरल तथा सौम्य व्यक्तित्व मिला था; जो प्रतिभा उन्हें जन्म से उपलब्ध हुई थी, उसके पूर्णतः प्रतिकूल एवं विरोधी परिस्थितियों के साथ उन्हें पूरा जीवन जूझना पड़ा। भौगोलिक दृष्टि से जम्मू जैसे पिछड़े अहिन्दी प्रदेश में जन्म लेना अपने आप में ही उनकी प्रतिभा के विकास के लिए सहायक नहीं था। इस पर उन्हें रोज़ी-रोटी के लिए बीस-पचीस वर्षों तक साहित्यिक गतिविधियों से कटकर गांव-गांव भटकना पड़ा। अन्ततः अपने अस्तोन्मुख जीवनकाल में जब उन्हें जम्मू में लौटने का अवसर मिला तो तब भी उन्हें स्थानीय सहधर्मियों से (कुछ एक अपवादों को छोड़कर) उपेक्षा तथा अवहेलना ही मिली। जम्मू का यह सचमुच सौभाग्य था कि इस प्रकार की विपरीत एवं विरोधी भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक, साहित्यिक एवं पारिवारिक परिस्थितियों में जीकर वे अपने दो काव्य-संग्रह हमें दे गए।

अपनी भोगी हुई इस उम्र भर लम्बी त्रासद कहानी को जीते-झेलते पिपासु को अपना आप व्यर्थ-सा लगने लगा था। समर्थ होते हुए भी जब कोई अपने आपको असमर्थ और व्यर्थ समझने की स्थिति में पहुंच जाता है तो तब वह या तो खीझकर अनाप-शनाप बोलने लग जाता है, या फिर आत्महत्या कर लेता है। कोई विद्रोह भावना से उत्तेजित होकर चर अचर को ध्वस्त करने के लिए व्यग्र हो उठता है। परन्तु हमारे पिपासु की वाणी से न तो कभी खीझभरे स्वर ही सुनाई पड़े और न हताशाजनित आर्त्तनाद ही। अधकचरे विद्रोह का आवेश भी कभी उनकी ज़ुबान से उमड़ता दिखाई नहीं दिया। सारा ज़हर पीकर भी वह नीलकण्ठ शंकर शान्त, सौम्य और सहज बना रहकर नियति की सारी यन्त्रणाओं

को बस झेलता चला गया। हां, महसूस होती हुई अपनी उस निरर्थकता और व्यर्थता से खीझने अथवा क्रुद्ध होने की जगह वह अपने परमेश्वर से कभी-कभी शिकायत ज़रूर कर लेता था :

"हाय ! मुझे चौराहे का ही
वृक्ष बना देते जो प्रभुवर !
श्रमिक बैठ कर आते जाते
तो लेते विश्राम कभी कर।"[1]

कवि को अपनी इस व्यर्थता की पीड़ा कभी-कभी विरोधी परिस्थितियों में कुछ इस तरह से आक्रान्त कर देती कि वे अपने आपको सार्थक बनाने के लिए अकुलाकर बोल उठते—क्या ही अच्छा होता यदि अपनी इस निरर्थक देह की जगह मैं—बीज कभी सरसों का होता :

"बस्ती से कुछ दूर, किनारे सरिता के सूनेपन के
होती कुटिया एक, जहां कवि होते एकाकीपन में
मुझे जलाते स्नेह रूप में डाल-डाल दीपक में जब
उसी उजाले में जग को सत-शिव-सुन्दर दिखलाता तब।
संग उन्हीं के हंसता रोता
बीज कभी सरसों का होता।"[2]

काव्येतर साहित्यिक विधाओं के लेखकों की तुलना में एक कवि के व्यक्तित्व को उद्घाटित करने के काम में उसकी रचनाओं में अन्तःसाक्ष्य परिमाण तथा उपयोगिता की दृष्टि से अधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इसका कारण यह है कि कवि अन्य विधाओं के लेखकों की अपेक्षा अधिक भावुक और इसलिये अधिक स्पष्ट वक्ता होता है। भावुकता की झोंक में वह न चाहते हुए भी कई बार बहुत कुछ कह जाता है। वास्तव में एक कवि के व्यक्ति को उसकी कविता में से पहचान लेना बहुत मुश्किल नहीं होता। पिपासु की बेशुमार ऐसी कविताएं उपलब्ध हैं जिनमें से उनका व्यक्ति बाहर झांकता हुआ साफ़-साफ़ देखा जा सकता है। इस दृष्टि से उनकी एक रचना 'मेला' बहुत ही महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। इसमें पिपासु के समग्र जीवन की एक विशद छवि साकार हो उठी है। यहां उनके शैशव, यौवन, प्रौढ़ावस्था तथा वार्द्धक्य के परिप्रेक्ष्य में उनका जीवन दर्शन तथा ढेरों तीखी-कड़वी, खट्टी-मीठी अनुभूतियों के सन्दर्भ में उनकी जीवन-दृष्टि भी स्पष्ट हो जाती है।

कवि के अनुसार, हर साधारण मनुष्य की भांति वह भी दुःख-सुख और मानापमान भरी इस दुनिया में विधाता द्वारा नियति के थपेड़ों को सांस-सांस

१. 'दो चांद' पृष्ठ ५१
२. वही पृष्ठ-२०

झेलने के लिए धकेल दिया गया था। भरी दुनिया में जैसे विरोधी परिस्थितियों की प्रमुख धार में उसे बहने-डूबने के लिए अकेला ही छोड़ दिया गया था।

"होकर बेबस जग के सुख-दुख
यश अपयश से खेला
जीवन अभिशापों का मेला।"[1]

अन्य मनुष्यों की तरह पिपासु का बचपन नितांत सरल मासूम और भोला-भाला था। उसमें न तो अपने पराए और न ही भले-बुरे का कोई विवेक था और न ही अपने मान-सम्मान की कोई चिन्ता ही थी। जीवन के उस वसन्त काल में कवि के लिए हंसना-खेलना, उछलना-कूदना सर्वोपरि था :

"अपनेपन का ज्ञान न था तब
निज गौरव का मान न था तब
मधु-विषमय का भान न था तब
क्रीड़ाओं से ही अनुमोदित
खोई शैशव की मधु वेला
जीवन अभिशापों का मेला।"[2]

जैसे-जैसे यौवन-रवि प्रखर होता जाता है; जब-जब आदमी में अपने कुछ होने का अहसास उद्दीप्त होता जाता है, उसमें अपने अतिरिक्त सब कुछ को तुच्छ समझने का उद्दाम उल्लास जाग जाता है। और यौवनोन्माद की इस घोर आत्मानुरक्ति की दशा में वह विवेकशून्य होकर सारी दुनिया को एक जश्न की तरह भोगने की प्रचण्ड लालसा में निर्बाध, स्वच्छन्द अपनी राह चलता जाता है। और इस उम्र में अभाव और निर्धनता भी उसके इस सहज व्यवहार को रोकने में समर्थ नहीं हो सकते। पिपासु एक लगभग निर्धन परिवार से सम्बन्ध रखते थे। अभावों के बीच ही उनका शैशव और किशोरावस्था व्यतीत हुए थे। परन्तु यौवन की मादक ऋतु में वे भी आत्मानुराग की अलबेली उच्छृंखलता से अपने आपको न बचा सके। तभी तो वे कहते हैं—

"जान गया जब अपनेपन को
निज यौवन के अनुपम धन को
मानी मद से भूले मन को
बांध सका कब, रोक सका कब, योग-भोग का रहा झमेला"

और जब जवानी के उफनते प्रवाह में किसी को कहीं किनारे जैसा कुछ नज़र आ जाता है तो हर्षोन्माद में सारी धरती उसे सोने-चांदी से मढ़ी हुई प्रतीत

१. 'दो चांद' पृष्ठ ८०
२. वही, पृष्ठ ८०

होने लगती है। यह अनुभूति मन को चंचल बना देती है। विवेक की चौंध विद्युत रेखा की भांति कौंधकर उस तूफान में ही खो जाती है। किनारे जैसा दिखाई देने वाला वह 'कुछ' हाथ से छूट जाता है। मुंह तक आते-आते कौर हाथ से गिर जाता है। आशा-वीचियां अजानी दिशाओं में विलुप्त हो जाती हैं। मोहभंग की इस स्थिति में पहुंचकर तब उसे यथार्थ से साक्षात्कार होता है। यौवन से प्रौढ़ावस्था तक के सफर में हमारे पिपासु के साथ भी यही कुछ हुआ। सरकारी नौकरी से उनकी रोटी-रोज़ी तो चलने लगी परन्तु उसने उसे उनके अभीष्ट वातावरण से दूर पटक दिया। कुछ पारिवारिक और निजी कारणों से तब तक उनका विवाह भी नहीं हो पाया। और जब विवाह हुआ तब यौवन का वह ज्वार शान्त होने को था :

"कभी चाह से चाह मिली जब
आशा बेपरवाह मिली जब
जीवन भर की आह मिली जब
तब सहसा ही छूट गया कर सहचर का, मैं रहा अकेला।"

जीवन-संध्या तक पहुंचते-पहुंचते जब आदमी अनुभूतियों के विपुल कोश से अपने आपको समृद्ध और सम्पन्न समझने लगता है तब विरोधाभासों में बिताया अपनी ज़िन्दगी का पिछला सफर उसे इतना थक चुका होता है कि अपनी विसंगतियों भरी सांसों की भाषा को अनुप्रासित करने की उसकी इच्छाओं के सामने उसकी जीर्ण-शीर्ण जीवन-पेशियां और विदीर्ण उत्साह-स्नायु जवाब दे जाते हैं। संघर्षों की जुझार में डटकर तलवार चलाने की शक्ति चुक जाती है। पिपासु ने भी अपना पूरा यौवन गांव-गांव घूम-भटक कर काट दिया था। जीवन भर मिली विडम्बनाओं ने उसे बीच में से ही तोड़ डाला था :

"फिर बिपदा घन गरज उठे तब
गिरि शिखरों की ओर झुके तब
चमक-चमक कर तनिक रुके तब
बरस पड़ा उफनाया यह नद लगी बहाने भयप्रद वेला"

उस अवस्था में पहुंचकर जब आदमी आखिरकार किसी निष्कर्ष पर पहुंच पाता है, जब वह समझने लगता है कि उसने जीवन के रहस्य को जान लिया है, उसका सार मालूम कर लिता है; जब उसकी ज़ुबान ज़िन्दगी का ज़ायका महसूस करने लायक बनती है तब उसकी रसना आस्वादन-क्षमता से वंचित हो चुकी होती है। तब उसके लिये मधु, तिक्त, कषाय, कटु आदि किसी रस में कोई अंतर नहीं रहता। तब उसे अंधेरा या उजाला एक जैसा दीखता है। अपने जीवन के मध्याह्न को पार करते-करते जब पिपासु को लगा कि वे अनुभूतियों की विपुल सम्पदा से सम्पन्न होकर इस असंगति-भूषित दुनिया में जीने लायक हो गये हैं;

तब मन में संघर्ष के लिए वह स्फूर्ति नहीं रही थी। भला वह खज़ाना भी किस काम का, जिसे पाकर आदमी उसे खरचने लायक ही न रहे। अपनी 'मेला' शीर्षक कविता की अन्तिम पंक्तियों में कवि ने अपने जीवन में झेली भोगी हुई कहानी में सब लोगों की कहानी को देखा है जो सहजता और स्फूर्ति से आरंभ होकर दुःखद अन्त में परिणत होती है :

शैशव में नर बेबस होता
य वन में असमंजस होता
जर्जर हो तन सब रस खोता
बीता सब हंसते रोते, तम समझा नहीं न जाना उजेला,
जीवन अभिशापों का मेला।"

इस प्रकार पूरी ज़िन्दगी अभावों, उपेक्षा, अवहेलना, असंगतियों और विसंगतियों में तिल-तिल कर काटने के बाद कवि को वह जीवन, जो शैशव और यौवन में कभी उसे क्रीड़ाओं, उल्लासों का मेला लगा था, अन्त में अभिशापों का मेला ही लगा।

पिपासु इस तथ्य से भलीभांति अवगत थे कि उन्हें काव्य-लेखन धन और जीवन की अन्य सुख-सुविधाएं उपलब्ध कराने का साधन नहीं हो सकता। उन्होंने इसी कारण, इस अभिप्राय से काव्य-सृजन को नहीं अपनाया था। कविता लिखना उनके स्वभाव का एक अंग एवं उनकी एक नैसर्गिक प्रवृत्ति बन चुका था। अपने काव्य-लेखन के पीछे यदि उनकी कोई कामना थी तो केवल इतनी कि लोग उनकी कविता के माध्यम से उन्हें याद रखें, भुलायें नहीं। उनकी इन पंक्तियों में उनकी यही अभिलाषा प्रस्फुटित हुई है : 'हमको भूल न जाना भैया !"

पिपासु के साथ इस लेखक का सम्पर्क दस-बारह वर्ष तक रहा है। इनमें अधिकांश मुलाकातें किसी साहित्यिक आयोजन, विशेषतः किसी कविगोष्ठी अथवा कवि-सम्मेलन में ही हुआ करती थीं। इसलिये उनके व्यक्ति के भीतर झांकने के बहुत ही कम अवसर मिलते थे। हां उन कुछ महीनों की यादें शायद कभी नहीं भूलेंगी जब अपने एक साहित्यकार बन्धु 'सारथी' के निवास स्थान पर हम चार-पांच साहित्यकार नित्य मिलते थे। उस कमरे को, जहां हम बैठा करते थे, हमने 'प्रयोगशाला' का नाम दिया था। वहां लगभग रोज बैठने वालों में पिपासु भी थे। वे वहां प्रायः उस समय पहुंचते जब मजलिस पूरी तरह जम चुकी होती थी या कभी समाप्ति पर होती थी। देरी का कारण पूछने पर वे बस थोड़ा मुस्कुरा भर देते। उन बहुत-सी मुलाकातों में, यद्यपि अधिक समय रचनाएं सुनने-सुनाने में ही निकल जाता था, मगर फिर भी कभी-कभी आपस में कुछ निजी बातों पर भी चर्चा होती। पिपासुजी के विषय में हमें मालूम हुआ कि वे अपनी धर्मपत्नी और परिवार के अन्य जनों, विशेषतः अपनी सन्तान से बहुत प्यार करते थे। उनकी

सुख-सुविधा और भविष्य के लिए कभी-कभी क्षीण-सी चिन्ता भी उनकी बातों से प्रकट हो जाती थी। 'क्षीण-सी' इसलिये कहा है कि वे अपने लेखक वन्धुओं पर अपनी निजी यातनाओं, यन्त्रणाओं को प्रकट करने से बचते थे। इसका कारण शायद यही था, और शायद यह ठीक भी था, कि दूसरों को अपनी दुःख-गाथा सुनाने से कोई विशेष लाभ नहीं होता। इस तरह अपनी लम्बी पीड़ा-यात्रा में पिपासु अपने किसी सहयात्री पर अपनी व्यथा-वेदना को प्रकट करने में संकोच करते। यह देख हमेशा आश्चर्य होता था कि वे किसी दिशा से प्रोत्साहन, स्नेह और सहानुभूति न मिलने पर भी किस तरह से अपने व्यक्तित्व को टूटने से बचाये हुए थे। इसका कारण यही लगता है कि वे दुःख-सुख दोनों को जीवन के अखण्ड सत्य मानकर चलते थे। इनसे रहित जीवन की सत्ता में शायद उनका विश्वास ही नहीं था। अश्रु-हास दोनों को अपने हृदय में समभाव से स्थान देने से ही आदमी इस देह को जीवन पथ में गतिशील रख सकता है। मनुष्य स्वप्न देखता है, उन्हें अपने कल्पना लोक में सजाता है, उनमें कुछ पूरे होते हैं, कुछ अधूरे रह जाते हैं। इससे आशा-निराशा की धूप-छांव में वह कभी हंसता है, कभी रोता है, कभी टूटता है, कभी जुड़ जाता है। और इन्हीं टूटते-जुड़ते सपनों में ऊबते-डूबते आदमी सांस-सांस कर के पूरा जीवन काट देता है। जीवन के प्रति अपने इसी दृष्टिकोण को कवि ने इन इन पंक्तियों में अभिव्यंजित किया है :

"चाहें कितनी उभर रही हैं
राहें कितनी बिखर रही हैं
आहें कितनी निखर रही हैं
इन चाहों, राहों, आहों के झूले में मैं निसदिन झूला।"[1]

ऊपर के विवेचन में पिपासु के व्यक्तित्व को, उनके निजी जीवन और कवि जीवन, दोनों को दृष्टि में रखकर आंकने की कोशिश की गई है। इसके लिये उनके साथ अपने निजी सम्पर्क, अन्य साहित्यकार बन्धुओं तथा कवि के परिवार से सम्बन्धित कुछ सज्जनों से प्राप्त तथ्यों और विवरणों को वाह्य साक्ष्य के रूप में प्रयुक्त किया गया है तथा अन्तःसाक्ष्य के लिए उनके दो प्रकाशित काव्य-संग्रहों तथा पांडुलिपियों को टटोलना पड़ा है। इसके लिए पर्याप्त परिश्रम के अतिरिक्त काफी समय भी लगा। पूरा प्रयास किया गया है कि कवि के व्यक्तित्व का, यथाशक्ति जितना भी हो सके, प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत किया जाए। लम्बे आयास के बाद इसे प्रस्तुत करते हुए फिर भी संकोच हो रहा है कि उनके छव्यांकन में कहीं कोई रेखा ग़लत न खिंच जाए।

अपने इस वक्तव्य के अन्त में निष्कर्ष के रूप में इतना और जोड़ना चाहूंगा

१. 'दो चांद', पृ० २८

कि पिपासु का व्यक्तित्व अध्ययन की दृष्टि से बहुत ही रोचक लगा है। वे अभाव-ग्रस्त होते हुए भी अपनी पीड़ा को होंठों तक नहीं लाते थे। निर्धन होते हुए भी उनमें निरीहता और दैन्य के चिह्न दृष्टिगत नहीं होते थे। शरीर से दुबले होते हुए भी हृदय के बहुत मजबूत थे। दुःख और निराशा के समुद्र में आचूड़ निमज्जित होते हुए भी हंसना जानते थे। सब ओर से उपेक्षित एवं अवहेलित होने पर भी किसी की उपेक्षा या अवहेलना नहीं करते थे। परंपरावादी होते हुए भी नये के प्रति किसी प्रकार का वैमनस्य नहीं रखते थे। इसके लिए दूसरों की हसी और व्यंग्य-वचनों का शिकार होते हुए भी उनके भीतर हीन भावना कभी दृष्टिगत नहीं होती थी। पिपासु वास्तव में हंसकर विषपान करने वाले शंकर थे। रोम-रोम से प्यासा होने पर तृप्त और संतुष्ट दिखाई देना; अंग-अंग घायल होते हुए भी सदा मुस्कुराते रहना; बिना पैसों के भी बादशाहों की तरह सिर को तानकर चलना—ये सब कुछ आसान काम नहीं। यह मन की निश्छलता एवं आत्मा की दृढ़ता के ऐसे लक्षण हैं जो किसी असाधारण व्यक्तित्व में ही उपलब्ध होते हैं।

पहली जनवरी १९७८ के दिन अपने जम्मू नगर के निवास-स्थान पर कवि का देहान्त हो गया। वे केवल सात-आठ दिन तक बीमार रहे। आखिरी दिनों में उनके ज्वर ने सन्निपात का रूप ले लिया था, जिसके फलस्वरूप वे अनाप-शनाप बोलने लगे थे। परन्तु कहते हैं वे फिर भी अन्तिम समय तक पूरे होश में रहे। मृत्यु से कुछ समय पूर्व तक वे अपनी कविता की पंक्तियां बोलते रहे। वे बार-बार यही कहते—"आखिर वह दिन आ ही गया।" अपने बड़े बेटे से अचेतनावस्था में बार-बार इन शब्दों को दोहराते रहे—"बेटा रामनरेश, मैं जाते समय तुम्हें कुछ नहीं दे सका। मेरी पुस्तकों को संभालकर रखना।" कवि की मृत्यु के बाद हुई एक शोक सभा में डोगरी के एक प्रसिद्ध कवि महोदय ने दुःखी परिवार को सिलाई मशीन देने का वचन दिया था, जिसे शायद वे आज तक पूरा नहीं कर सके। 'युवा हिन्दी लेखक संघ' नामक एक स्थानीय साहित्यिक संस्था उनके परिवार को कुछ समय तक ५० रुपये मासिक की सहायता देती रही। इसके अतिरिक्त उस शोक सभा में नगर के कई प्रतिष्ठित सज्जनों ने कवि के परिवार को सहायता देने के लिये जो बड़े-बड़े वचन दिये थे उनमें से यदि कुछ एक भी पूरे किये जाते तो उनके बच्चों की दशा सुधर सकती थी। परन्तु आज उनकी दयनीय दशा को देखकर मन विचलित हो जाता है। यह सोचकर बहुत दुःख होता है कि लोग 'शोक सभा' जैसे अवसरों पर भी जो 'आंसू' गिराते देखे जाते हैं उससे उनका उद्देश्य दिवंगत के प्रति श्रद्धा तथा उसके परिवार के साथ सहानुभूति प्रकट करना उतना नहीं होता जितना कि अपने उन 'आंसुओं' को लोगों के बीच प्रचारित करना होता है। इस संदर्भ में पिपासु की ये पंक्तियां बरबस याद आ जाती हैं :

"सुन्दर सचमुच आकृति सुन्दर
ज्यों देवों के बीच पुरन्दर
लगते हैं इक इक से वढ़कर
पर लख कौन निराश न होता, जन-जन पर विश्वास न होता।"[1]

१. 'दो चांद', पृ० ७३।

रचनाएं

कविता के प्रति गहन अनुरक्ति कवि में बहुत पहले से थी। छोटी मोटी तुकबन्दी तो वे किशोरावस्था में ही करने लगे थे। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—"एक दिन अपने कुछ मित्रों के साथ नगर से बाहर घूमते घूमते चले गये। और वहां सभी ने एक बड़े से पत्थर पर बैठकर कविता लिखने का निर्णय किया। थोड़ी ही देर में हमने कुछ लिख लिया। और हमने सोचा कि हम कवि हो गये हैं।"[१] परन्तु प्रारंभिक रचनाएं कोरी तुकबन्दियां ही थीं। ढग से लिखना तो उन्होंने लगभग चौथे दशक में ही शुरू किया। और तब से वे देहावसान पर्यन्त बराबर लिखते रहे। इस प्रकार कुल मिलाकर वे लगभग पैंतीस चालीस वर्ष तक काव्यसृजन में निरत रहे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, साहित्यिक और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों से उनके व्यक्ति और कवि को कभी भी समुचित प्रोत्साहन एवम् अपेक्षित प्रतिष्ठा नहीं मिली। इस सबसे वे हतोत्साह तो नहीं हुए परन्तु उनका उत्साह मंद अवश्य पड़ गया था। इसका प्रमाण यह है कि पैंतीस चालीस वर्ष की लम्बी अवधि के बीच उन जैसे प्रतिभावान कवि को परिमाण में जितना लिखना चाहिए था, वे उतना नहीं लिख सके। साहित्यिक वातावरण से, अपनी जम्मू से बाहर बाहर निरंतर बीस-बाईस वर्ष की अनुपस्थिति से हुई विच्छिन्नता को भी उनके कम लिखने का एक कारण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त बहुत सी आर्थिक एवं पारिवारिक विवशताएं भी इसका कारण हो सकती हैं। परन्तु फिर भी, ऐसी विपरीत एवं विरोधी परिस्थितियों तथा नितांत असाहित्यिक वातावरण में रह कर भी, हिन्दी कविता को वे जो कुछ और जितना दे गये हैं वह आश्चर्यजनक होने के साथ साथ महत्वपूर्ण भी कहा जा सकता है। अपने समग्र काव्य साधना-काल में उन्हें उनके बिलकुल अपने कहे जाने वाले लोगों, साहित्याकारेतर मित्रों तथा कवि-बन्धुओं में से प्रायः किसी ने भी पूरी तरह से नहीं अपनाया। आज, उनके मरणोपरांत, कुछ लोग भले ही उन्हें अपनाने का दावा करते देखे जाते हों परन्तु उन्होंने कवि को उसकी जीवनावधि में तथा मृत्यु

१. चीड़ों में ठहरी बयार—आत्मकथा में

के अनंतर उनके परिवार वालों को सहानुभूति एवं ठोस आर्थिक सहायता के रूप में जो कुछ दिया वह किसी से छिपा नहीं। किसी साहित्यिक संस्था वाले उन्हें बीच बीच में एक पदाधिकारी जरूर बना लेते रहे हों। परन्तु उक्त तथाकथित सम्मान पर गौरव करने का अवसर उन्हें कभी नहीं दिया गया। यह बात कवि की इन वेदना-प्रसूत पंक्तियों में स्पष्ट दिखाई दे जाती है :

मैंने जग को उल्लास दिया
कोरा भ्रम का विश्वास किया
पर कब सुख का निःश्वास लिया
निज अरमान दला करता हूं;
खा अंगार पला करता हूं;
अपना आप छला करता हूं।[1]

और यह सब होते हुए भी कवि ने जो कुछ भी लिखा, वह भी समय पर प्रकाशित नहीं हो सका। यदि १९४० के आसपास लिखी गई उनकी कविताएं चौथे दशक में ही प्रकाशित हो जाती तो कवि पर 'परम्परावादी' होने के आक्षेपों तथा कटाक्षों की तीव्रता मंद हो सकती थी। उनकी कविताओं की साहित्यिक प्रासंगिकता १९६५ तक पहुंचते पहुंचते, जब वे 'दो चांद' नामक काव्य संकलन के रूप में सामने आईं; उस समय की नई काव्यदिशाओं के समक्ष फीकी तो पड़ ही चुकी थी।

पिपासु अपने जीवन काल में दो कविता संग्रह प्रकाशित कर पाए। 'दो चांद' और 'सीमा का पंछी'। इनके अतिरिक्त काफी दौड़धूप करने पर उनके दो काव्य-संकलनों की पांडुलिपियां प्राप्त हो सकीं। 'जीवनगान' और 'अनजान साधना'। इन दोनों के अध्ययन से ऐसा लगा कि वास्तव में वे अलग अलग संकलन नहीं हैं। क्योंकि कविताएं दोनों में समान-रूप से रखी गई हैं। पांडुलिपियों और उनके साथ प्राप्त हुए आवरण-पृष्ठ के डिज़ाइन को देखकर महसूस हुआ कि पिपासु उन रचनाओं को 'अनजान साधना' के नाम से प्रकाशित करना चाहते थे। एक तो इसके लिये वे आर्थिक साधन नहीं जुटा पाए दूसरे नियति ने इस इच्छा के पूर्ण होने से पूर्व ही उन्हें उठा लिया। अगले अध्यायों में उनकी काव्य-कृतियों पर, रचनाक्रम के अनुसार, विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

1. 'अनजान साधना'

दो चांद

रचनाक्रम की दृष्टि से 'दो चांद' पिपासु की प्रथम प्रकाशित कृति है। यह सन् १९६५ में 'उमा-उर्मिला प्रकाशन' द्वारा प्रकाशित हुआ। इसके लिये कवि को स्थानीय साहित्य अकादमी से आर्थिक सहायता भी प्राप्त हुई। कवि की दूसरी प्रकाशित काव्यकृति 'सीमा का पंछी' है, जो उमा-उर्मिला प्रकाशन द्वारा सन् १९६७ में प्रकाशित हुई। दो पांडुलिपियों के अतिरिक्त कवि की कुछ डायरियां और नोट-बुकें भी देखने को मिलीं। परन्तु इनमें लिखी रचनाएं उपरिनिर्दिष्ट प्रकाशनों तथा पांडुलिपियों में उपलब्ध होने के कारण उन पर कुछ कहना उपयोगी नहीं होगा। अतः यहां पर उनके प्रकाशनों और पांडुलिपियों पर ही यथाक्रम विवेचन किया जाता है।

दो चांद

कवि की अन्य प्रकाशित अप्रकाशित रचनाओं की तुलना में 'दो चांद' कई दृष्टियों से एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण कृति ठहरती है। इसमें संकलित अधिकांश कविताएं (ग्रन्थ के अन्तिम पृष्ठों पर दी गई कुछ भारत-पाक युद्ध-संबंधी कविताओं को छोड़) कवि की प्रारम्भिक कृतियां प्रतीत होती हैं। ये उस काल की रचनाएं हैं जब कवि जवानी के प्रमत्त मौसम में सांस ले रहा था। कदाचित् यही कारण है कि प्रस्तुत संकलन की कविताओं का एक प्रबल स्वर उन्मुक्त शृंगार का है। इसकी भी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें शृंगारिकता के विविध पक्षों को उभारा गया है। इसमें एक उन्मुक्त प्रेमी की स्वच्छन्द कुलांचे हैं। रूप के अहेरी प्रेमी हृदय की छेड़-छाड़ भरी तरंगें हैं। ग्रन्थ की आरंभिक कविताओं में ये स्वर बहुत ही प्रबल रूप में दिखाई पड़ते हैं :

मैं प्रेमी हूं कर लेने दो, दो पल सजनी प्यार मुझे[1]
इस नहीं नहीं में हां हां है, मैं समझ गया मैं जान गया,
क्या चुप-चुप मुस्का कहते हैं ये अधर, सखी पहचान गया
कुछ प्यास छिपी बैठी इनमें कुछ प्यास बुझी मैं जान गया

---

१. दो चांद, पृष्ठ-३।

तकरार भला यह फिर कैसी, क्यों दूर-दूर रसपान रहा
रस-बिन्दु-पिपासु शंकर की क्यों होती कह दो हार मुझे
मैं प्रेमी हूं कर लेने दो, दो पल सजनी प्यार मुझे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पिपासु का साधना-क्षेत्र जम्मू चौथे दशक के दिनों तक एक पिछड़ा हुआ प्रदेश था। वहां आज की तरह शृंगारिक भावनाओं को सार्वजनिक रूप से उद्गिरित करना, वह कविता के रूप में ही क्यों न हो, नैतिक दृष्टि से अवांछनीय समझा जाता था। लगता है कवि पिपासु भी अपने प्रणयोद्‌गारों को अभिव्यक्ति देने के कारण उन दिनों संबंधित जनों द्वारा अच्छी नज़र से नहीं देखे जाते थे। 'दो चांद' की कई कविताओं में कवि ने ऐसे प्रणय-विरोधी तत्त्वों पर कटाक्ष किया है। इन पंक्तियों में प्रेम-विह्वल मन और सामाजिक मर्यादाओं से आक्रान्त यौवन की कातरता देखते ही बनती है :

दो पंछी हैं दो पिंजरों में दोनों के हैं द्वार खुले
दोनों में उड़ने की क्षमता
पर दोनों पिंजड़ों के सन्मुख हैं सामाजिक जाल तने[1]

इन सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन करने में असमर्थ 'दोनों पंछी' इस तथ्य से भली-भांति अवगत हैं कि उन्हें समाज के इन कठोर नियम-प्राचीरों के सम्मुख घुटने टेककर जीवन भर इसी यातना में तिल-तिल कर घुलना है। उनकी नियति यही है :

दोनों के दृग मिल न सकेंगे
दोनों के दिल खिल न सकेंगे
दोनों ही भर दिल न सकेंगे
आशाओं के मधुमासों से हो जीवन भी भार भले।
दो पंछी हैं दो पिंजरों में दोनों के हैं द्वार खुले ॥[2]

'दो चांद' की एक कविता 'असमंजस' में कवि की एक ऐसी अभिव्यक्ति देखने को मिली है जैसी काव्यक्षेत्र में अन्यत्र बहुत ही कम देखने को मिला करती है। यह है एकाधिक प्रणयिनियों के बीच फंसे एक प्रेमी के मन की परेशानी और दुविधा। प्रायः देखने में आता है कि यौवनकाल में सभी प्रेमी हृदयों में ऐसे एकाधिक प्रेम-ज्वार उभर-उभर आते हैं। परन्तु किसी भी कवि की लेखनी ऐसी किसी मनः-स्थितियों को खुलकर अभिव्यंजित करने से कतरा जाती है। परन्तु हमारे पिपासु इस प्रकार के नैसर्गिक प्रणयोद्‌गारों को किसी तरह से भी अवरुद्ध करने में विश्वास नहीं रखते। अनुभूति की सीधी अभिव्यक्ति में उनकी पक्की आस्था है।

---

१. दो चांद, पृष्ठ ६।
२. दो चांद, पृष्ठ ७।

वे अपने सच्चे और सहज भावावेगों की अभिव्यक्ति के सन्मुख खड़ी नैतिकता, विवेक एवं संयम की दीवार को भी फांद जाते हैं। रूपरसिया पिपासु दो प्रेमिकाओं के बीच चुनाव की दुविधा में कहते हैं :

इधर स्नेह सरिता उमड़ी है अल्हड़ सा अलबेला यौवन
उधर शांत अभिशापित यौवन, चिरकुमारिका का उन्मन मन
किसको किसको प्यार सुझाऊं
दोनों में किसको अपनाऊं[1]

और तब कवि इस स्थिति से त्राण पाने के लिए स्वयं अपने आपको ही एक सुझाव देता है, जो नैतिक दृष्टि से उपहासास्पद लगते हुए भी उसकी अनुभूति की प्रामाणिकता तथा अभिव्यक्ति की सहजता लिये हुए है। उसका भंवरा-मन दो-दो अभिसारों को साथ-साथ भोगने के लिये लालायित हो उठता है। इन पंक्तियों में इस मन:स्थिति से उत्पन्न व्यग्रता देखिए :

दोनों ओर उधर यौवन मैं यौवन का सागर बन पाऊं
वे नदियों सी उछलें उमड़ें, मैं मधुर मिलन की प्यास बुझाऊं
ऐसा क्या प्रेमी कहलाऊं
दोनों में किसको अपनाऊं[2]

कैसी विकट स्थिति आ बनी है। प्रेमी को दोनों ओर से समान रूप से खींचा जा रहा है। बहुत यत्न करने पर भी वह निर्णय नहीं कर पा रहा कि वह इनमें से किसे अपनाए और किसे छोड़ दे। दोनों के बीच वय का अन्तर भी इसके लिये कोई बाधा नहीं है :

पंचदशी औ' अष्टदशी का यह झगड़ा कैसा अलबेला[3]
कोई योगी आज बता दे किसकी हो कैसे अवहेला ?

अपनी इस अलबेली, उन्मुक्त प्रणय-यात्रा में कवि मर्यादाओं की बाधाओं से बहुत ही दुःखी है।[4] वह इन सामाजिक नैतिकता के अवरोधों और प्रतिरोधियों को कभी :

'व्याध लगा मत आग पेड़ को',
कहते-कहते बहक रहे"[5]

यह कहकर उनसे अपने प्रेम का रास्ता न रोकने के लिये कवि कभी अनुरोध करता है तो कभी उसकी "बिल्ली' सी घूरती हुई दृष्टि" के बावजूद अपनी प्रणय-क्रीड़ा को जारी रखने का संकल्प लेता है।

१. दो चांद, पृष्ठ ४।
२. दो चांद, पृष्ठ ५।
३. दो चांद, पृष्ठ ५।
४. दो चांद, पृष्ठ ८।
५. दो चांद, पृष्ठ ८।

श्रृंगारिकता के संदर्भ में 'दो चांद' की कविताओं के सबसे अधिक मर्मस्पर्शी स्वर एक प्रणयी की अतृप्त कामाकांक्षाओं के करुण एवं अवसादपूर्ण चित्रों में सुनाई पड़ते हैं। लगता है कवि का पिपासु उपनाम उसकी इसी प्रणयोद्वेलित मनःस्थिति का ही प्रत्यक्ष प्रतीक है। पैंतालिस छियालिस वर्ष की प्रौढ़ वय में विवाह और उस समय तक जवानी के दिनों की दमित कामेच्छाएं ही 'दो चांद' की अधिकांश कविताओं में प्रस्फुटित हो उठी हैं। कवि कई काव्य-संकेतों द्वारा यह कहता हुआ प्रतीत होता है कि वह नारी-संसर्ग से सदैव वंचित रहा है। उसे अपनी प्रेयसी से यह शिकायत है कि उसने उसकी कायिक काम-तृष्णा को शान्त नहीं किया है। उसके कोरे मान-सम्मान को लेकर भला वह क्या करेगा ?

तुम भोली हो केवल तुमने[1]
बस मान बढ़ाना ही सीखा
सीखा न किसी का तुमने प्रिये पूरा करना अरमानों को
तुम पूज रही पाषाणों को।

इसी तरह दमित काम-तृषा की उग्रता 'दो चांद' की कई कविताओं में दृष्टिगत होती है। चुम्बन, आलिंगन, परिरंभन आदि शब्दों का जिस प्रकार रस ले-लेकर कवि ने प्रयोग किया है वह उसकी कामातुर मानसिकता को साफ़-साफ़ उद्भासित कर जाता है। कवि का अभावमथित यौवन इस व्यथा को सहते-सहते इसका आदी सा हो चुका है। उसे तो अब तेज़ से तेज़ नश्तर भी कोई दर्द नहीं पहुंचा सकता :

बना वेदनामय शरीर ही[2]
पीर न दे विष-बुझा तीर भी
करके स्पर्श कमल-कर से अब मेरी पीर हरो न हरो
अब क्या बांह भरो न भरो ?

प्रस्तुत संग्रह के 'राग-रोग' शीर्षक गीत में भी कवि की यही मानसिकता बड़ी तीव्रता से अभिव्यंजित हुई है। बहुत काल से इस वेदना की यातना झेलते-झेलते अब उसे विश्वास हो चला है कि स्थिति में अब किसी तरह के परिवर्तन की आशा करना व्यर्थ है। उसकी निराशा हताशा तक की स्थिति तक जा पहुंची है :

बांधना था काल को तब[3]
बंध गया पर काल से अब
मैं स्वयं ही काल का तो भोग होता जा रहा हूं
राग से मैं रोग होता जा रहा हूं।

---

१. दो चांद, पृष्ठ २८।
२. दो चांद, पृष्ठ ३०।
३. दो चांद, पृष्ठ ३५।

परन्तु कामदग्ध हृदय की यह निराशा चाहे कितनी भी घनी क्यों न हो पर फिर भी कवि आत्मपीड़ा की उस ज्वाला में तिल-तिल कर अपने आपको जला डालने में ही अपने असफल प्रणय की परिणति मानता है। वह इस सब के लिये अपने ही ऊपर खीझकर आत्म-व्यथा-निवेदन करके शान्त हो जाता है। जिस समाज ने उसके प्रेम-विकास के मध्य नैतिकता की तुंग प्राचीर खड़ी करके उसे इस स्थिति तक पहुंचाया है, कवि के मुख से उसके लिये भी किसी तरह के अमंगल कामनासूचक शब्द नहीं निकलते। दो पंछी शीर्षक कविता में वह समाज के आकाश पर मंडराते इस 'बाज'[1] को भी तीर से घायल होता नहीं देख सकता। क्योंकि प्रेम के संसार में घृणा और हिंसा की भावना के लिये कोई स्थान नहीं है :

"हम तो कहते हैं सबके घर में फूलों की महक रहे[2]
एक पेड़ पर दो नीड़ों में दो पंछी हैं चहक रहे।

१. एक शिकारी, पक्षी।
२. दो चांद, पृष्ठ ६।

छायावादी भावभूमि

'दो चांद' का रचना-काल, उसकी कुछ अंतिम रचनाओं को छोड़, हमारे विचार में, १९४०-४५ के बीच ठहरता है। उस समय तक छायावादी कविता के स्वर क्षीणतर हो चले थे और उनका स्थान प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी काव्य-धाराओं ने ले लिया था। परन्तु भौगोलिक, राजनैतिक, आर्थिक और साहित्यिक दृष्टि से पिछड़ा क्षेत्र होने के कारण जम्मू के कवियों तक इस धारा के पहुंचने में लगभग एक दशक का विलंब हुआ। ये इस क्षेत्र में तब पहुंचे जब राष्ट्रीय स्तर पर साहित्य क्षेत्र में अपना संगीत बिखेर कर ये विलुप्त-प्राय हो चले थे।

'दो चांद' की रचनाओं को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि पिपासु पंत, प्रसाद, महादेवी, निराला आदि कवियों की रचनाओं से बहुत अधिक प्रभावित थे। यही कारण है कि पिपासु की उस काल में रचित काव्य-कृतियों पर पंत के प्रकृति से तादात्म्य, महादेवी की करुणा और वेदना, प्रसाद की दार्शनिकता और निराला की ओजस्विता का अनुरणन सुनाई दे जाता है। 'दो चांद' की 'याद' शीर्षक कविता को देश की कुछ अतिश्रेष्ठ छायावादी शैली की कविताओं में गिनाया जा सकता है। एक नमूना उद्धृत है।

कभी फेर ग्रीवा को अपनी इधर-उधर सुलझाता पट पर
धीरे-धीरे नाप रहा मग वह मराल निर्झर के तट[1] पर
झूम-झूम झुक-झुक कर भू पर कभी बीनता है मुक्ताकण
देखा करता जब उस गति को गति देती उन्माद किसी की
आती है जब याद किसी की।

पन्त की भांति कभी कभी प्रकृति की सुरम्य, सौम्य, नव्य-भव्य एवं शान्त छवियों की चौंध की ताब न लाकर पिपासु का जिज्ञासु कवि उसके रहस्यों को उद्घाटित करने की व्यग्रता लिये हुए दिखाई पड़ता है :

किरणों के कर पकड़-पकड़ चाहा चंदा से उलझूं[2] मैं
पूछूं किसका रूप लिया प्रतिबिंब तुझे किसका समझूं मैं

---

१. दो चांद, पृष्ठ १५
२. दो चांद, पृष्ठ १२

व्योम विहारी बन न सका पर धरती का भी रह न सका मैं
झलक तुम्हारी सह न सका मैं।

महादेवी वर्मा की विरह-वेदना और उनका दुःखवाद हमारे प्रणय के प्यासे कवि पिपासु की मानसिकता के बहुत समीप पड़ता है। इसीलिए उनके कई गीतों में इसकी ध्वनि मिलती है। महादेवी के गीत 'पुलक-पुलक मेरे दीपक जल' का-सा करुण-निवेदन प्रस्तुत पंक्तियों में भी देखा जा सकता है।

विश्व सोता नींद भर-भर जागता हूं मैं अकेला[1]
प्राण पथ तव हेरते ही हो रही गत रात्रि वेला
स्नेह प्राणों का जलाकर
तन स्वयं ही सज सजाकर
मैं प्रतीक्षा में तुम्हारी आज बस कर दूं सवेरा।

चिरपीड़ा को शाश्वत-सुख मानकर आत्मसात् कर लेना और फिर उसी में डूबने को अपने आध्यात्मिक प्रणयोद्योग की इति समझ लेना महादेवी के काव्य-चिंतन की प्रमुख विशेषता है। अपने गीतों को कवि अवसाद-प्रदत्त मस्ती का खुमार कहता है:

"जीवन-चषक जब दुःख-सुरा से भर लिया[2]
उन्माद में गाया कभी रो भर लिया।"

दर्द कवि के लिए न तो भुलाने की चीज है और न ही एक त्रासद अनुभूति है। वह तो उसके दुःख विदग्ध जीवन के प्रसुप्त स्नायुओं को झंझोड़कर अनुप्राणित करने वाला अभीष्ट प्रसाद है—

नव-उमंग ले नवोत्साह[3] ले
कभी आह ले कभी वाह ले
नवोल्लास नव रस प्रवाह ले
जीवन करे प्रदान
दरदीले दरदीले ये जीवन-गान।

छायावादी कवियों में विशेष रूप से महादेवी वर्मा के कई गीतों में स्वप्न में प्रिय मिलन के कई चित्र देखने को मिलते हैं। जहां पर 'प्रिय बिना किसी आहट के इस तरह से आता है कि उसकी पद चाप तक भी सुनाई नहीं पड़ती।' पिपासु के इस गीत में ऐसा ही एक चित्र देखिए—

१. दो चांद, पृष्ठ १०
२. दो चांद, पृष्ठ १६
३. दो चांद, पृ० ३६

मुंदी आंखें मिल दिये[1] वे
खुली आंखें चल दिये वे
जान पाया कुछ न मैं, क्यों
मिलन विरहा का स्वयं संयोग होता जा रहा हूं
राग से मैं आप ही तो रोग होता जा रहा हूं।

इसमें सन्देह नहीं कि वेदना और अवसाद पिपासु की 'दो चांद' में संकलित रचनाओं का प्रमुख स्वर है, पर बीच बीच में उसकी कई रचनाओं में जिजीविषा का उल्लास प्रसाद के काव्यचिन्तन की दिशा को तलाश करता हुआ दिखाई पड़ता है :

सत्य, सत्य कितना भीषण[2] है
फिर भी इस में आकर्षण है
प्राण प्राण में संघर्षण है
इससे फिर भी हुआ नहीं है यह तो सखे सभीत
मेरी हार भरी यह जीत !

लगता है जीवन के प्रति अपने इसी दृष्टिकोण के कारण कवि घोर हताशा की स्थिति में भी जिन्दगी के खराब-से-खराब मौसम की कचोटों की यन्त्रणा को झेलते हुए भी संघर्ष के पथ से विमुख नहीं होता। जीवन-मग में पग-पग पर मिलने वाली पराजय-जनित निराशा भी इस सफर में उसे पूरी तरह से तोड़ने में समर्थ नहीं हो पाई। यही कारण है कि कवि अपनी हर पराजय में से विजयोल्लास लेकर चलता दिखाई पड़ता है।

पिपासु का जीवन-चषक आजीवन 'दुःख-सुरा' से परिपूर्ण रहा है। उम्र भर लम्बे पतझड़ में उसकी असंख्य इच्छाएं-कामनाएं एक-एक कर शुष्क-पल्लवों की भांति झरती रही हैं। मित्र, स्वजन-सम्बन्धी, जान-पहचान वाले सभी कवि की इस दीन-हीन दशा से दयार्द्र होकर उनके दुखों से दुःखी होते दिखाई तो जरूर देते थे परन्तु सहानुभूति के ठोस प्रमाण के रूप में उन्हें कभी किसी से कुछ नहीं मिला। शायद इसी कारण कवि ने यह कहा होगा—

जहान कहता है चातक पिपासु ही तो रहा[3]
पर न प्यास किसी से बुझाई उसकी गई।

ऊपर 'दो चांद' की कविताओं के संदर्भ में पिपासु की जिन उन्मुक्त-यौवन की प्रणयोक्तियों और छायावादी भावभूमि से निःसृत जिन काव्योद्गारों का विवरण प्रस्तुत किया गया है उनमें अभिव्यक्ति की सहजता, नैसर्गिकता एव सरलता

---

१. दो चांद, पृ० १६
२. दो चांद, पृष्ठ ३१
३. दो चांद, पृष्ठ ८३

के साथ-साथ मौलिकता भी बनी रही है। इनमें भाव-साम्य एवं शैल्पिक अनुसरण तो देखा जा सकता है मगर किसी भी रचना को छायावादी काल की किसी भी कृति की अनुकृति नहीं कहा जा सकता। हर रचना में किसी-न-किसी नव्य भाव का उन्मेष और अभिव्यंजना हुई है। प्रस्तुत संग्रह की रचनाओं में कुल मिलाकर दुःख, करुणा और अवसाद की मात्रा अधिक होते हुए भी कतिपय ऐसे गीत भी मिलते हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि कवि पीड़ा और व्यथा की गहनतम गुहा में भी आशा का कोई न कोई छोर अवश्य थामे रहा है। ऊपर-ऊपर से देखने पर भले ही ऐसा लगे कि पिपासु एक निपट निराश, हताश एवं अवसादग्रस्त कवि थे। भले ही 'अभिशाप जीवन वर हुआ'[1] और प्राणों का स्नेह जलाते-जलाते सवेरा कर देने की हद तक आत्मपीड़न के मर्मान्तक चित्र दिखाई दे जाएं। या फिर 'मौन रहकर आप अपना सोग होता जा रहा हूं।'[2] आदि पंक्तियों में उनकी यन्त्रणाओं की तीव्रता का अहसास मिल जाता हो, परन्तु ऐसी पंक्तियों के समकक्ष रख कर यदि 'हो न सकेंगे[3] राख कभी हम, मिटे हमारी साख नहीं।' आदि स्थलों की ओर ध्यान दें तो लगेगा कि कवि की जीवन के प्रति दृष्टि नकारात्मक (Negative) न होकर सदा आस्थावान रही है। इसीलिए तो प्रस्तुत गीत में कवि दुःख-यामिनी की क्षुद्रता को दिखाने का प्रयास करता दिखाई पड़ता है। वह अपने-आपको निराशा की तमिस्रा में से झंझोड़कर बाहर निकालने के लिए व्यग्र दिखाई पड़ता है—

दुख के बादल घिर-घिर आए[4]
बिजली तड़प-तड़प तड़पाए
सुख-समीर के झोंकों से दुख के बादल दूर भगा दे
अपने पन के गीत सुना दे।

---

१. दो चांद, पृष्ठ १६
२. दो चांद, पृष्ठ ३५
३. दो चांद, पृष्ठ ८
४. दो चांद, पृष्ठ ३६

अन्तर्विरोध

प्रस्तुत संग्रह की आशा-निराशा एवं दुःख-सुख संबंधी अभिव्यक्तियों को यदि एक-दूसरे से अलग कर के देखा जाए तो कवि के कथ्य में निश्चय ही अन्तर्विरोध अथवा विरोधाभास जैसा कुछ दिखाई पड़ेगा। परन्तु यदि इसकी रचनाओं को समग्रता की दृष्टि से एक साथ देखा जाए तो निश्चय ही किसी तरह का विरोध नहीं मिलेगा। वास्तव में बात यह है कि हमारा विवेच्य कवि अनुभूति की याथा-तथ्य अभिव्यक्ति में विश्वास रखता है। वह किसी भी भाव को अपने श्रोताओं अथवा पाठकों से छिपाने का प्रयास नहीं करता। क्या कोई यह कह सकता है कि महादेवी के जीवन में कभी कोई सुखद क्षण आया ही न हो। या पंत ने प्रकृति से विलग होकर जीवन का कोई क्षण जिया ही न हो। वास्तव में बात यह है कि 'दुःख' और 'प्रकृति प्रेम' इन दोनों कवियों के क्रमशः प्रवल पक्ष रहे हैं। जिन पर इन कवियों ने अपनी अपनी कविता के पेटर्न स्थिर किए। इतर अनुभूतियों को (जो निःसंदेह बीच में उभरती रही होंगी) उन्होंने जान-बूझकर कदाचित् अपनी सुपरिचित काव्य छवि के भंग होने की आशंका से, अपनी सृजन भंगिमा से बाहर रखा। परन्तु पिपासु न तो अपनी कविता का कोई पेटर्न स्थिर करने की स्थिति में ही थे और न ही उनकी कविता का कोई ट्रेडमार्क (यदि वे बना भी लेते) काव्य-जगत् में मान्यता प्राप्त कर सकता था। हमारी यह धारणा पिपासु के इस कथन से और भी पुष्ट हो जाती है—

"···संभव है मन की अस्थिरता[1] और निजी चिन्ताओं का प्रतिबिम्ब पाठक मेरी कविता में देखें। परन्तु मेरे विचार में ये संघर्षरत जीवन के भावुक उद्गार हैं। सीधी भाषा में मुझसे जो बन सका, कह दिया।"

'दो चांद' ही के संदर्भ में पिपासु की कविता के अवसाद-पक्ष का विवेचन करते समय दो महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। एक तो यह कि कवि की दुःख की अभिव्यंजना में कभी भी कहीं पर भी खीझ, क्षोभ, ग्लानि, शिकायत अथवा दुःख के आलम्बन की प्रतारणा या भर्त्सना का संकेत नहीं मिलता। पीड़ा की विकट

---

१. दो चांद, अपनी बात : पृष्ठ ५

यन्त्रणाएं भी कवि की जीवन के प्रति आस्था और निष्ठा को निरस्त अथवा स्खलित करने में समर्थ नहीं हो सकीं। इस दुःख-दाव के प्रचण्ड कुंड में से कवि पिघले सोने की तरह कुन्दन बनकर निकला है—

सोना जला हुआ पर आहा कुंदन है वह पीत[1]
मेरी हार भरी यह जीत।

पराजय की अंधेरी रात में विजय का उजाला देखना कवि के अदम्य जीवट का परिचायक है। बेशक शिकायत, विरोध अथवा विद्रोह कवि के स्वभावकोश के बाहर के शब्द हों परन्तु अपने स्वाभिमान पर वह कभी भी आंच नहीं आने देता। वह विकटतम परिस्थितियों के सम्मुख कभी भी आत्मसमर्पण नहीं कर सकता—

आज न बल है विद्रोही बन[2]
कर मैं ऊंचा शीश उठाऊं।
किन्तु हठी मन कब माने
मैं जग के आगे शीश झुकाऊं ?

अतः पिपासु की कविता में अंतर्विरोध न होकर विरोधी मानसिकता की सहज झांकियां हैं। उसका भावुक मन इतना सुकोमल है कि उसमें क्रोध का आवेश पनप ही नहीं सका। उसके मन की आर्द्रता का सबसे बड़ा प्रमाण तब मिलता है जब वह पीड़ा देने वाली दुनिया का तो क्या उससे मिली हुई पीड़ा का भी तिरस्कार नहीं करता। उसके लिए तो यह वेदना भी दया की अधिकारिणी है; कोसने की वस्तु नहीं—

आंचल न छोड़ती है यह वेदना कहूं क्या[3] ?
जो आ गई शरण में फिर दूर क्या हटाना

जीवन भर जहर पीने को मिलता रहा, परन्तु उसने विषदाता को कभी शाप नहीं दिया। अपने दुःख अथवा दुःखदाता, दोनों में किसी के लिए भी उसके मन में न तो चिढ़ है और न घृणा ही। वह तो विष प्रदान करने वाले का भी कल्याण चाहता है :

'हम तो कहते हैं सबके घर में फूलों की महक[4] रहे।'

हां दुःख वेदना से कराह कर वह कभी-कभी इतना जरूर पूछ लेता है कि उसे यह यातना किस कारण से मिल रही है :

---

१. दो चांद, पृष्ठ ३५
२. दो चांद, पृष्ठ ४६
३. दो चांद, पृष्ठ ४०
४. दो चांद, पृष्ठ ४३

'मैं फूलों में बसने वाला
क्यों शूलों में आज बसेरा ?'[1]

इस प्रकार कवि के प्रस्तुत संग्रह में संकलित रचनाओं में दिखाई देने वाला विरोध वास्तव में उसकी अभिव्यक्ति की नैसर्गिकता, सहजता एवं सरलता है। जिस क्षण जैसी अनुभूति उद्भूत हुई वह उसी रूप में अभिव्यंजित हो गई।

१. दो चांद, पृष्ठ ५४

सार्थकता की तलाश

कवि के अवसाद का जो एक अन्य पक्ष सामने आता है वह भी उसके आस्था-वान् स्वस्थ-चिंतन के अनुरूप ही है। जीवन भर मिलती रहने वाली अपरिमित उपेक्षा, अवहेलना और दुःख के पहाड़ जैसे बोझ के नीचे दबकर आदमी चरमरा जाता है। त्रासद परिवेश में जिंदगी को लगातार घसीटते-घसीटते वह भरी दुनिया में अपने अस्तित्व के प्रति ही संदिग्ध हो जाता है; अपने आप को व्यर्थ समझने लगता है। घुन की तरह भीतर-ही-भीतर चाटती चली जाने वाली इस व्यर्थता और अप्रासंगिकता की खरोंचों की ताब न लाकर वह या तो आत्महत्या कर लेता है या फिर मानसिक सन्तुलन खोकर चोरी, डकैती या हत्या का मार्ग अपना लेता है। उसके जीवन की सहजता चुक जाती है। परन्तु पिपासु ने अपनी इस अप्रासंगिकता और वेदना से घबराकर न तो आत्महत्या ही की और न कोई अन्य अवांछित मार्ग ही अपनाया। इसका कारण है कि जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टि-कोण का अभाव तथा ईश्वरीय शक्ति में दृढ़ आस्था। इस संदर्भ में 'दो चांद' की दो कविताएं उसकी इस आस्थावान् मानसिकता को पूर्णरूप से उद्घाटित करती हैं। वे हैं 'चौराहे का वृक्ष' और 'अभिलाषा'। कवि अपने आप को मरु के सूखे पेड़ जैसा समझता है। जिस पर न तो कभी कोई पक्षी ही आकर बैठता है और न ही जिसके पास थके-हारे राही को राहत देने वाली शीतल छाया ही है। उस तक पहुंचते-पहुंचते तो चांद की उजली-ठंडी किरणें भी फीकी पड़ जाती हैं। कवि अपने परमेश्वर से शिकायत-भरे स्वर में पुकार उठता है :

'हाय मुझे चौराहे का ही'
वृक्ष बना देते जो प्रभुवर
श्रमिक बैठकर आते-जाते
ले लेते विश्राम कभी कर।'[1]

इसी मनोदशा में कवि कभी-कभी अपने 'कुछ न होने' की अपेक्षा 'सरसों का बीज' होना कहीं अधिक श्रेयस्कर समझने लगता है। वह चाहता है कि ईश्वर यदि

---

१. दो चांद, पृष्ठ ५१

उसे सरसों का बीज बना देता तो वह किसान के हाथों रुपकर कुछ ही दिनों में अंकुरा कर बड़ा हो जाता। पीले-पीले कुसुमाधरों पर खिली-खिली उसकी पीली-पीली मुस्कान द्वारा तितलियों को आकर्षित करता। इतना ही नहीं, पक जाने पर किसान द्वारा कोल्हू में पिसने के बाद भी उसका अवशिष्ट सूखा पदार्थ ढोरों के चारे के काम आता। उससे निकलने वाले तेल की उपयोगिता का विवरण तो बहुत ही मार्मिक बन पड़ा है :

बस्ती से कुछ दूर किनारे सरिता के सूनेपन में[1]
होती कुटिया एक जहां कवि होते एकाकीपन में
मुझे जलाते स्नेह रूप में डाल-डाल दीपक में जब
उसी उजाले में दुनिया को सत् शिव सुन्दर दिखते तब
संग उन्हीं के हंसता रोता
बीज कभी सरसों का होता।

अपनी निरर्थकता के संताप की यातना को कोई कवि शायद ही इससे अधिक मार्मिक अभिव्यंजना देने में सफल हो सके। परिवेशगत कोल्हू में पिसने से किसी को भी तो कुछ नहीं मिलता। न पिसने वाले को ही और न पीसने वालों को। परन्तु सरसों के बीज पीसने वाले को तो शुष्क पदार्थ और तेल देते ही हैं, पिसने वाले को भी अपनी सार्थकता का संतोष प्रदान करते हैं। हम इसे कवि का दैन्य न कहकर उसकी सार्थकता की तलाश ही कहेंगे।

१. दो चांद, पृष्ठ १६

अवसाद का उदात्तीकरण

अभावों की चक्की में निरंतर पिसने से मिली पीड़ा को वही झेल सकता है जिसमें जीवन के प्रति निष्ठा और संघर्ष के प्रति आस्था हो। इतर स्वभाव वाला व्यक्ति दुःख-वारिधि में डूबकर फिर कभी बाहर नहीं निकलता। इस दुनिया में अपनी पहली सांस में ही उसका सुख-सूर्यअस्ताचलगामी हुआ। घृणा, द्वेष, ईर्ष्या की स्याही ने उसके अग-जग को आक्रान्त कर दिया। ऐसे में कवि का विहग-मन इस अंधेरी दुनिया से दूर उड़ जाने के लिए आकुल हो उठा। परन्तु इस गहन तमिस्रा में भी वह दिशाहीन नहीं हुआ। उसके पास आस्था का संबल और एक निश्चित दिशा जो है। फिर उसे किसका भय ? ये व्यथा वेदना उसका कुछ भी तो नहीं बिगाड़ सकती। उसके पास दिशा है और उस ओर उड़कर पहुंच जाने की क्षमता भी है :

ध्यान इष्ट कीओर लगाकर[1]
मारग सुन्दर सरल बनाकर
बन जा साधक साजन का
हो तल्लीन उसी में जाकर
क्यों झेले कष्ट घनेरा
चल पंछी ढूंढ बसेरा।

चहुंओर व्याप्त विषमताओं से आक्रान्त होने पर भी मन में साम्य-भावन को विलुप्त न होने देना और समरसता के मार्ग पर अग्रसर होने का संकल्प कर लेना किसी भी साहित्यकार, विशेषत: एक कवि व्यक्तित्व के लिये कोई मामूली और आसान काम नहीं है। भले ही आज के कुछ वैयक्तिकतावादी इस आदर्शोन्मुख चिन्तन को आज की कविता के फ़ैशन से बाहर की चीज समझें परन्तु स्वस्थ चिंतन का लक्षण होने के कारण इस प्रवृत्ति को साहित्य के लिये अवांछ्य अथवा परिहार्य मानना किसी प्रकार भी उचित एवं संगत नहीं ठहरता। इस संदर्भ में पिपासु की 'जीवन नद' नामक कविता बहुत ही महत्त्वपूर्ण लगती है। इसमें कवि विषम-पथ

---

१. दो चांद, पृष्ठ २१

का यात्री होते हुए भी समतल भूमि पर पहुंचने के लिये व्यग्र है। विषम-पथ का यातना को तुच्छ समझकर उसकी सारी यन्त्रणा को विस्मृत करके वह एक विशाल महानद की तरह बहना चाहता है जो सारी धरती में समरसता भरने में सफल हो सके :

'समतल धरती पर मेरा जीवन-नद बहने दो।'[१]

इसी प्रकार अपनी 'विद्युत्-गति' शीर्षक कविता में वह अपने कुंठित साहस में नया उल्लास भरना चाहता है। यह भावभूमि इन पंक्तियों में मुखरित हो उठी है :

'जब सधें हाथ तब झुकें माथ[१]
समझें सनाथ हों साथ-साथ
दुनिया वाले जो हों अनाथ सुमुदित हो तब तव मन कुरंग।

इसमें संदेह नहीं कि दुःखों का प्रहार बहुत गहरा होता है। इसे क्षुद्र समझ कर अपने भीतर जीवन की ललक को बनाए रखना, कहना आसान हो सकता है, इसका पालन करना बहुत ही दुःसाध्य काम है। 'कुछ भी न होने की' घातक परिस्थितियों में भी 'कुछ न कुछ' होने और होकर, अपने लिये न सही, दूसरों के लिये यत्किंचित् सार्थक होने की अभिलाषा अपने आप में बहुत ही श्लाघ्य प्रयास है।

१. दो चांद, पृष्ठ ५४

निष्कर्ष

इस सारे विवेचन से पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है कि 'दो चांद' में पिपासु का मुख्य स्वर शृंगार का है। उसमें भी प्रेमातुर हृदय के प्रणयोल्लास को अभिव्यंजित करने वाले दो चार गीतों को छोड़कर शेष गीतों में एक उपेक्षित, अवहेलित प्रणयी के करुण उच्छ्वास मात्रा में कहीं अधिक हैं। कई गीतों में प्रेम-विह्वल कवि अपने भावों की अभिव्यंजना के लिये छायावादी पद्धति का अनुसरण करता दिखाई देता है। परन्तु वहां पर भी, कतिपय गीतों की कुछ इनी गिनी पंक्तियों को छोड़कर उसे इस प्रयास में कुछ विशेष सफलता नहीं मिली है। हां, कवि के जीवन में अवसाद की मात्रा अधिक होने के कारण उसकी भावभूमि अन्य छायावादी कवियों की अपेक्षा महादेवी वर्मा के अधिक समीप कही जा सकती है। परन्तु बीच-बीच में जब कवि इस दुनिया से विरक्त होकर 'चल पंछी ढूंढ बसेरा'[१], 'अब न कहूंगा प्रीत करे जग'[२], और 'राग से मैं आप ही तो रोग होता जा रहा हूं'[३] कहकर असफल प्रेम को रोग समझने लग जाता है तो उसमें विरक्ति की मात्रा का अतिरेक होने के कारण वह महादेवी से दूर जा पड़ता है। महादेवी तो दुःख को परम सुख मान कर चलती हैं। उसे सांस-सांस जीना और आंसू-आंसू, मुस्कान-मुस्कान भोगना चाहती हैं। बिना कोई शिकायत होंठों पर लाए; बिना किसी पीड़ा का आभास दिये। क्योंकि वे दुःख को नित्य; शाश्वत और जीवन वाले अभिन्न तत्त्व मानकर चलती हैं। परन्तु हमारा कवि पिपासु तो कभी-कभी दुःख के त्रासद क्षणों को भुला देना चाहता है :

'वे प्यार के पल अब याद न कर।'[१]

पिपासु के लिये दुःख जीवन का सर्वस्व नहीं। उससे मुक्ति के लिये संघर्ष मानव जीवन की अनिवार्यता है। वह केवल डूबे रहने की वस्तु नहीं है। इसीलिये वह कभी-कभी किसी आशा-रज्जु को थामकर अवसाद के धरातल से ऊपर उठने

---

१. दो चांद, पृष्ठ २१
२. दो चांद, पृष्ठ २७
३. दो चांद, पृष्ठ ३७

के लिये छटपटाता हुआ दिखाई पड़ता है। 'अभिलाषा' और 'चौराहे का वृक्ष' गीतों को इसी कोटि में रखा जा सकता है।

'दो चांद' की अपनी रचना-यात्रा में कवि निःसन्देह एक भावुक प्रेमी का उल्लास और उमंग भरा हृदय लेकर चला था। मगर दो-चार कदम चलकर ही उसे मार्ग की विषमता का अहसास हो गया। उसकी पीड़ा की गठरी भारी से भारी होती चली गई। मगर उसकी जिजीविषा ने उसे बचाए रखा। इसीलिये वह 'दो चांद' से आगे भी अपनी रचना-यात्रा जारी रख सका।

प्रगति और राष्ट्रीयता के स्वर

'दो चांद' के अन्तिम पन्नों पर कुछ ऐसी कविताएं जोड़ दी गई हैं जो इस संग्रह के मूलस्वर से किसी भांति भी मेल नहीं खाती हैं। ये रचनाए व्यावसायिक दृष्टि से लिखी गई (कवि सम्मेलनों, रेडियो आदि के लिए) प्रतीत होती हैं। इन्हें इस संग्रह में जोड़ने का कारण ग्रंथ की कलेवरवृद्धि की इच्छा ही हो सकती है। इन सभी रचनाओं में पिपासु के कवि के स्थान पर केवल उनका शिल्प ही उभर कर सामने आया है। १९६२ के भारत-चीन संघर्ष और १९६५ के भारत-पाक युद्ध के दिनों में आयोजित कवि सम्मेलनों अथवा कविगोष्ठियों में भले ही इन रचनाओं की कुछ प्रासंगिकता रही हो परन्तु इन में कवि का अपना स्वरूप कहीं भी नहीं देखा जा सकता। सामयिक विषयों पर सपाट शैली में लिखी गई इन रचनाओं को कवि की चिर जीवी रचनाओं की पंक्ति में नहीं रखा जा सकता। 'रणभेरी', 'ललकार', 'दुश्मन से', 'आह्वान', 'मित्र द्रोही' और 'विदा' आदि ऐसी रचनाएं हैं जो इस संग्रह की भावान्विति को निःसन्देह आघात पहुंचाती हैं। यदि आज पिपासु जीवित होते तो वे स्वयं यह स्वीकार कार लेते कि इन रचनाओं से प्रस्तुत संग्रह की श्रीवृद्धि नहीं हुई है। कवि ने अवश्य इन रचनाओं को इस संकलन में अनिच्छा से जोड़ा होगा।

संग्रह के अन्तिम पन्नों में दी गई 'पूंजीपति का पश्चाताप' एकमात्र ऐसी रचना है जिसमें कवि आर्थिक विषमता की चक्की में पिसते हुए शोषित वर्ग के प्रति अपनी सहज संवेदना को प्रकट करता है। परन्तु, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट हो जाता है, इस सन्दर्भ में कवि एक ऐसी अनहोनी बात कह रहा है जो केवल गांधीवादियों की विचारधारा के साथ भले ही मेल खा जाए परन्तु वर्ग-संघर्ष के किसी तरह के संकेत के अभाव में नितान्त हास्यास्पद-सी लगती है। गांधीवादी दार्शनिकों की भले ही यह धारणा हो कि पूंजीपति देश की सम्पदा के ट्रस्टी हुआ करते हैं और उन्हें निर्धनों को देख कर पश्चाताप हो सकता है, और वे आवश्यकता पड़ने पर (या फिर पश्चाताप से पसीजकर) शोषितो के हित के लिए अपना धन लुटा सकते हैं। परन्तु शोषण के उन्मूलन के लिए यह सुधारवादी और कल्पना-सुखद दृष्टिकोण कभी भी न तो सहायक हुआ है और न हो सकता है। मानव

जाति का अनुभव यह बताता है कि शोषण की समस्या का समाधान शोषकों के विवेक पर छोड़ देने से शोषण की प्रक्रिया में किसी तरह का अवरोध आने की जगह उसे और अधिक प्रश्रय और बल मिलता है। यदि शोषकों में विवेक नाम की कोई वस्तु होती तो वे शोषण करते ही क्यों? क्या कभी प्यार-पुचकार, अनुरोध, उपदेश आदि के उद्बोधनात्मक वचनों द्वारा एक सुगठित शोषण चक्र की नीवों को हिलाया जा सकता है? शायद इसी लिए प्रस्तुत कविता की अन्तिम पंक्तियों में कवि क्रांति की बात करता है :

"आज वही शोषित जन मिल कर
आये प्रासादों को ढाने
बने प्रलय की ज्वाला, वे तो
आये मुझको हाय जलाने।"

इस विषय की यह एकमात्र रचना होने के कारण इस पर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। अतः इन्हीं शब्दों के साथ 'दो चांद' की भावभूमि की चर्चा समाप्त की जाती है।

---

१. दो चांद, पृ० २६

शिल्प तथा शैली

'दो चांद' की कुछ एक कविताओं को छोड़ कर बाकी सभी जगह कवि ने गीत-पद्धति का अनुसरण किया है, शब्दचयन, वाक्यविन्यास, छन्दविधान आदि की दृष्टि से इस संग्रह की अधिकांश रचनाएं छायावादी काव्य-शिल्प और शैली के बहुत पास दिखाई पड़ती हैं। गीत विधा वैसे ही कवि को बहुत प्रिय रही है। वह इसी में अधिक रमता है। जहां कहीं उसने इसे छोड़कर इतर पद्धति का अनुसरण करने का प्रयास किया है वहीं उसमें अस्वाभाविकता और शैलिपक शिथिलता आ गई है। वहां वह बिल्कुल फीका पड़ता हुआ दिखाई देता है। छायावादी शैली और शिल्प में भी पिपासु पंत और महादेवी के गीतों की पद्धति के अधिक निकट दिखाई पड़ता है।

पिपासु ने 'दो चांद' में अपेक्षतः तत्सम शब्दावली का अधिक प्रयोग किया है जो छायावादी शैली की विशेषता रही है। तुक-योजना में कवि सिद्धहस्त जरूर है मगर कहीं-कहीं भावानुरूप न होने और अस्पष्ट होने के कारण उसकी कई तुकें केवल पंक्तिपूरक प्रयास ही सिद्ध हुई हैं। जैसे :

"और दूसरा पंथ प्रेम का
दिखलाता मुझ से बोरों का"

इस पंक्ति में 'बोरों का' का प्रयोग केवल तुकबदी के प्रयोजन से किया गया भरती का शब्द लगता है, परन्तु फिर भी यदि 'दो चांद' की रचनाओं को समग्र रूप में देखें तो कवि के शैलिपक कौशल और शैलीगत प्रौढ़ता एवं परिपक्वता की प्रशंसा करनी ही पड़ती है। अतः भाव-शिल्प और शैली की दृष्टि से 'दो चांद' को एक श्रेष्ठ काव्य-कृति कहने में संकोच नहीं होना चाहिए।

सीमा का पंछी

प्रकाशन क्रम में 'सीमा का पंछी' पिपासु की दूसरी और अंतिम प्रकाशित काव्य-कृति है। इस संकलन की भावभूमि 'दो चांद' से कई दृष्टियों से भिन्न है। 'दो चांद' के रचनाकाल, सम्भवतः तीसरे चौथे दशक, में कवि अपने यौवन के मध्याह्न में था। इस काल की उसकी रचनाओं में उसके रूप-रसिया मन, यौवन की चंचलता, उच्छृंखलता और मस्ती टपकती है। उसका तृषित यौवन कुछ पाने को कुलबुलाता और न मिलने पर निराशा के उच्छ्वास छोड़ता नज़र आता है। दो बूंद प्यार पाने के लिए उसके युवा हृदय में आसमान के तारे तोड़ लाने की क्षमता है। राष्ट्रीय स्तर पर भले ही, इस अवधि में, छायावादी काव्य स्वर मंद पड़ चुके थे परन्तु भौगोलिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक दृष्टि से पिछड़ा क्षेत्र होने के कारण जम्मू में इस धारा का उन्मेष और उन्नयन काफी देर बाद हुआ। दो चांद के गीतों का मूल स्वर श्रृंगारिक होते हुए भी उन पर छायावादी पद्धति की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

'सीमा का पंछी' की कविताओं का रचनाकाल १९५५ से १९६७ के बीच आंका जा सकता है। यहां तक पहुंचते-पहुंचते 'दो चांद' वाला यौवनोन्मत्त, चंचल और उच्छृंखल कवि प्रौढ़ावस्था को पार कर आया है। इस कारण से वह अपने चिंतन और अभिव्यक्ति में काफी नियंत्रित हो चुका नज़र आता है। क्योंकि 'सीमा का पंछी' की रचनाओं में, नीचे उद्धृत, 'दो चांद' जैसी पंक्तियां कदाचित् ही देखने को मिलें :

"उभार देख के जग की सजी जवानी[1] का
है कौन जिसका दिल उभर उभर नहीं आता"

अथवा

'सीखा न किसी का तुमने प्रिये पूरा करना[2] अरमानों को'

'सीमा का पंछी' तक पहुंचते-पहुंचते कवि में श्रृंगारिक भावुकता के स्थान पर यथार्थपरक सहजता एवं व्यावहारिकता के चिह्न उभरते दिखाई पड़ते हैं।

---

१. दो चांद, पृ० ४५

२. दो चांद, पृ० २८

छायावादी कल्पनालोक का खुमार उतर चुका है। अब उसकी उर्दू कवियों जैसी दिलफैंक प्रणयोक्तियां कहने में कोई रुचि दिखाई नहीं पड़ती। अब वह बीस बरस पहले की तरह प्यार की पूरी दुनिया पाने के लिए लालायित नहीं हैं। अब तो वह अपने प्रिय से बस इतना ही चाहता है जिससे वह इस दुनिया में सांस ले सके :

"मुझको न तुम संसार[1] दो
पर जी सकूं जिसके सहारे, प्रिय मुझे आधार दो।"

इस प्रकार 'सीमा का पंछी' की रचनाओं में उन्मुक्त शृंगारिकता के आवेश, छायावादी कल्पना जगत के भीने-भीने स्वप्न-संसार तथा वैयक्तिक अवसाद के करुण उद्‌गारों के स्थान पर परमात्मा के सम्मुख आत्म-व्यथा निवेदन है। कवि वैयक्तिक परिधि से बाहर निकल कर खुली हवा में आ गया है। वह अब अवसाद, व्यथा और वेदना के निजी लघु-कक्ष को छोड़कर उसकी नित्यता और व्यापकता के धरातल पर आ पहुंचा है। अतएव 'सीमा का पंछी' में दुःख-सुख का आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से अवलोकन, मुखौटवी परिवेश की वास्तविक छवि तथा व्यावहारिक जीवन में मिलने वाली कुछ दूसरी मीठी-तीखी अनुभूतियों के चुभते चित्र ही अधिक हैं। 'दो चांद' ही की भांति इस संकलन में भी देशप्रेम, राष्ट्रीयता-विषयक कुछ कविताओं के अतिरिक्त कुछ युद्धगीत एवं राष्ट्रीय नेताओं की प्रशस्तियां भी हैं। इस संग्रह में 'घर', रीता घट, बन्दर, परशुराम जी, तुलसी-दास प्रभृति कई ऐसी रचनाएं भी हैं जिनमें कुछ आर्थिक विवशता के कारण (रेडियो अथवा अन्य सरकारी साहित्यिक आयोजनों के लिए) फर्माइश पर लिखी गई प्रतीत होती हैं। सभी कतिपय विशेष मनःस्थितियों के विवरणात्मक चित्र हैं। 'दो चांद' की अपेक्षा यह संकलन कहीं अधिक विषयगत विविधता लिए हुए है। आर्थिक विवशता अथवा फर्माइश पर लिखी गई रचनाओं को इसमें जोड़ने के पीछे, 'दो चांद' की भांति, कलेवर वृद्धि की इच्छा ही रही होगी। इस संग्रह की रचनाओं की इस विविधता के कारण इसके अध्ययन से पाठक को कवि की अनुभूतिगत व्यापकता का आभास जरूर मिल जाता है।

१. सीमा का पंछी, पृ० ९

जीवन-दृष्टि

'सीमा का पंछी' तक पहुंचते-पहुंचते, जिसका रचनाकाल १९५५-१९६७ के बीच स्थिर किया जा सकता है, यौवन का ज्वार उतरने के साथ-साथ कवि का शृंगारिकता के प्रति अत्याग्रह भी शिथिल पड़ता गया। प्रेम की राहों में पग-पग पर मिलने वाली उपेक्षा, अवहेलना और विडम्बनाओं ने उसे भरी दुनिया में विरस एवं विरक्त बना डाला था। लगता है अपनी जवानी की इस प्रणय-यात्रा में कवि बहुत अधिक पाना चाहता था परन्तु सफलता के नाम पर उसे उसका शतांश भी नहीं मिल पाया। टूटा हुआ प्रेमी-मन गहन निराशा की ऐसी मनःस्थितियों में मानसिक संतुलन खो बैठता है। वह या तो अवांछित दिशाओं में निकल जाता है या फिर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होता है। पिपासु के भग्नाश प्रणयी मन ने इनमें से अन्तिम मार्ग का अवलम्बन किया। इसका कारण उसके परिवारगत आस्तिक संस्कार तथा ईश्वर के प्रति उसकी दृढ़ निष्ठा थी। अनुभूतियों के कठोर थपेड़ों ने उसे कटु-यथार्थ की जिस शिला पर पटक दिया था वहां यही रास्ता उसके स्वभाव एवं संस्कारों के अनुरूप पड़ता था। यह उसके तब तक के सफर की एक सहज परिणति थी :

> "अरमानों के तूफानों से जीवन नय्या[१] 'मेरी
> खाती जाती है हिचकोले बीच भंवर में घेरी
> तुम्हीं कहो यदि पार करो न किस विध पार तरूं
> देव तुम्हारे इन चरणों में क्या क्या भेंट धरूं।"

हताश और असफल व्यक्ति अपने विफल जीवन से अन्ततः समझौता करने पर मजबूर हो जाता है। उसके मुख से दार्शनिकता जैसा कुछ फूटने लगता है। पिपासु का प्रणयी मन भी अपने जीवन के तब तक के सफ़र में, यौवन के उद्दाम साहस के बावजूद, थक-हारकर टूट चुका था। और तब उसने अपनी सुविधा के लिये एक ऐसे पथ का आविष्कार कर लिया, जहां शेष बचे जीवन को जीने की विवशता के कारण, आदमी विजय और पराजय के बीच के अन्तर के प्रति आंखें

---

१. 'सीमा का पंछी', पृ० १०

मूंदकर चलने लगता है। जीवन में मिलने वाली विजय-पराजय का कुछ इसी तरह का समझौतवी अथवा दार्शनिक विवेचन इन पंक्तियों में दिखाई पड़ता है :

'जिस हार से प्रिय के चरणों पर[1]
होकर विह्वल नहीं लोट सके
जिस जीत से चाह सभी मन की
अर्पित प्रियजन को हो न सके
उस हार से क्या उस जीत से क्या ?

वरसों तक निरंतर मिलने वाली असफलताओं के बीहड़ में भटकते-भटकते जीने के लिये कोई न कोई रास्ता तो निकालना ही पड़ता है। और इस से बढ़कर श्रेयस्कर और कौन सा मार्ग हो सकता है जहां आदमी सुख और दुःख दोनों को ही जीवन में मिलने वाला प्रसाद समझकर इन्हें समभाव से ग्रहण करता चले। यह अलग वात है कि इस तरह की आदत डालना असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य होता है। इसमें संदेह नहीं कि पिपासु में अपार जिजीविषा थी, इसलिये उन्होंने भी जीने के लिये इसी मार्ग को सुविधाजनक समझा होगा। यह दूसरी बात है कि वे इस पर कितने कदम चल पाए। चल भी पाए कि नहीं अथवा केवल चलने का संकल्प लेकर ही रह गये। कुछ भी हो यह दृष्टिकोण आकर्षक जरूर है :

'क्या कहते, कटुता है इसमें[2]
क्या कटुता जीवन सार नहीं ?
पर इस कटुता के संग-संग
मादकता का संसार यहीं।'

यदि मनुष्य में जीने की चाह बाकी हो तो ढेरों असफलताएं भी उसके मनोबल को खण्डित नहीं कर सकतीं। और अगर जिजीविषा के साथ-साथ अपने परमात्मा के प्रति आस्था का सम्बल भी उसके साथ हो तो वह विकटतम परिस्थितियों में से भी पार हो जाता है। एक असफलता यदि लक्ष्य के प्रति नये साहस का संचार कर दे अथवा एक निराशा यदि एक नई आशा का स्रोत बन जाए तो आदमी जैसे मरते-मरते फिर से जी उठता है :

''इच्छा ही से तो आशा है[3]
आशा जीवन का जीवन
जीवन इच्छाहीन कहो तो
जी सकता है कितने क्षण।''

---

१. सीमा का पंछी, पृष्ठ २०
२. सीमा का पंछी, पृष्ठ २१
३. सीमा का पंछी, पृष्ठ २४

कोई चाहे असफलताओं के सम्मुख अपने मन को कितना ही कड़ा क्यों न कर ले; दुःख को जीवन का प्रसाद समझकर उसे सहर्ष झेलने के संकल्पवश अपने आप को चाहे कितना ही सुख-दुःखानुकूलित क्यों न बना डाले; नित्य मिलने वाले दुःख के आघातों तथा चतुर्दिक् व्याप्त विषमताओं को देखकर भले ही क्रुद्ध न हो परन्तु ये सब विडम्बनाएं उसे क्षुब्ध जरूर कर देती हैं। उसे अपनी आस्था और निष्ठा, निश्चय और संकल्प सब डगमगाते हुए दिखाई देने लगते हैं। ऐसी स्थिति में क्षोभवश पिपासु अपने परमात्मा से कभी-कभी शिकायत भरा तर्क-वितर्क जरूर कर लेते हैं :

क्या कहते हो मोम आग के पास रहे पर पिघल न पाए ?[1]
क्या कहते हो बीच भंवर में नाव रहे पर डूब न जाए ?
ज्वलित तप्त लावा ज्वालामुखि पर्वत में आ फूट न पाए ?
उड़ती दूर पतंग व्योम में आंधी आए टूट न जाए ?
हाय विषमता में इस जग के होगी कैसे अधिक प्रतीक्षा ?
और न लो प्रभु, कठिन परीक्षा !"

और इस तर्क-वितर्क एवं अनुनय-अनुरोध के बावजूद आदमी को जब अपने आराध्य इष्ट का मौन टूटता दिखाई नहीं देता तो वह सब कुछ को नकारने लग जाता है। सब कुछ के प्रति विरस एवं विरक्त हो उठता है। पिपासु ने ऐसी ही मनःस्थिति को एक दार्शनिक की भांति देखने का प्रयास किया है :

"वह मुझको, मैं उसको चाहूं[2]
उसने उसको चाहा
इन चाहों ही चाहों में
संसार हो गया स्वाहा।"

परन्तु ऐसे विरक्ति भरे वचनों को कवि के मुख से निकले निराशाजनित क्षणिक आवेश के उद्‌गार कहना ठीक होगा। क्योंकि पिपासु निःसंदेह मूलतः आस्थावान कवि थे। भले ही उनकी कविता को ऊपर-ऊपर से देखने पर वे किसी को निराश, हताश कवि नजर आएं, पर ज़रा गहराई में जाकर अध्ययन करें तो लगेगा कि जीवन के प्रति उनकी दृढ़ आस्था ऐसे क्षणों में उन्हें तुरंत संयत और स्वस्थ बना देती थी। इतनी बड़ी दुनिया में प्रेम को छोड़ सोचने और करने के लिये और भी बहुत कुछ है। 'ग़म और भी हैं दुनिया में मुहब्बत के सिवा।' इसी कारण कवि दुःख को सहजभाव से स्वीकार करना चाहता है। वह सुख और दुःख, दोनों में, किसी को भी नित्य एवं शाश्वत नहीं मानता। वह उसे कालिदास के अनुसार

१. सीमा का पंछी, पृष्ठ २३
२. सीमा का पंछी, पृष्ठ २५

"नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण"[1] अनित्य एवं परिवर्तनशील समझता है। प्रस्तुत पंक्तियों से उसके इसी दृष्टिकोण की पुष्टि होती है :

अस्त होकर फिर उदय होता दिवाकर[2]
शून्य होकर पूर्ण फिर होता सुधाकर
दिवस, निशि, ऋतु लौटते फिर आ रहे हैं
स्वत्व खोकर स्वत्व फिर से पा रहे हैं
फिर न क्यों रुचिकर हो यह व्यापार तेरा
चित्रमय संसार तेरा।

आस्थावान मन विरक्ति और ऊब को सलीब बनाकर गले में नहीं बांध लेता। वह ऐसे क्षणों में जीवन और अनुराग के नये क्षेत्र तलाश करने लग जाता है। अपनी इस तलाश में चतुर्दिक व्याप्त प्रकृति उस की अवसाद-दग्ध बौनी कृतियों को अपनी व्यापक छवि से विशाल, व्यापक एवम् उदात्त बना देती है। शर्त यह है कि उसकी आस्था की बुनियाद गहरी और मज़बूत हो। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रकृति मनुष्य को उसकी मनःस्थिति के अनुरूप अनुकूल अथवा प्रतिकूल दिखाई देती है। परन्तु जिसमें जीवन के लिये ललक हो उसे प्रकृति हर स्थिति में स्निग्ध, सौम्य और कल्याणी नज़र आती है; सुख के क्षणों में हंसाती हुई, नचाती हुई, दुःख की घड़ियों में मन को बहलाती हुई, घावों को सहलाती हुई। वास्तव में बात ऐसी है कि जो आदमी जीना चाहता है, वह जी ही लेता है। अगर वह जीना जानता नहीं तो कोशिश करके सीख लेता है। और जीने के लिये सबसे अधिक स्फूर्ति और प्रेरणा उसे प्रकृति की विराट सत्ता से प्राप्त होती है। पिपासु भी प्रकृति को भवक्लेशहारिणी संजीवनी समझते हैं :

वायु कर से स्पर्श कर तन आज पुलकित कर लिया है[3]
स्त्रोत स्वर कल-कल सुनाकर राग उर में भर लिया है
रागरंजित अरुण प्राची नव दिशा मन हर लिया है
सरसता सरसा किया है सरस मन यह आज उन्मन।

आज के इस अहमहमिका भरी भीड़-भाड़ से आक्रान्त समाज में ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, हिंसा, दम्भ, पाखण्ड, भ्रष्टाचार और ऐसी ही अनेकों गर्हित वृत्तियों से संतप्त होकर मानवता में आस्था रखने वाला कोई भी व्यक्ति अपने आपको सहज एवं स्वस्थ बनाए रखने में समर्थ नहीं होता। स्नेह, संवेदना, सहानुभूति, सौहार्द, करुणा, सहजता और सरलता में विश्वास रखने वाला व्यक्ति यथाशीघ्र, जैसे-कैसे

१. सीमा का पंछी, पृष्ठ २९
२. मेघदूत
३. सीमा का पंछी, पृष्ठ ४२

भी हो, इस कुत्साओं भरे परिवेश से मुक्ति पाना चाहता है। और यदि वह व्यक्ति कवि भी हो तो उसके लिये ऐसे घुटन भरे वातावरण में सांस लेना भी मुकिश्ल हो जाता है। क्योंकि उसका भावुक मन फूल की तरह नाजुक होने के कारण हल्की-सी खरोंच भी नहीं सह सकता। बहुत दिनों तक अपने मुखौटवी परिवेश की कचोटों को झेलते-झेलते पिपासु इस दूषित दुनिया को छोड़कर आकाश की ऐसी ऊंचाइयों में चले जाना चाहते हैं, जहां पर चांद-सितारों की झिलमिल बस्ती में वे स्वच्छन्द विहार कर सकें। वह बस्ती, जहां पर कोई छोटा या बड़ा नहीं होता। जहां पर एक-दूसरे की रोशनी को कोई नहीं छीनता। वरन् जहां आपस में सदा रोशनी का आदान-प्रदान हुआ करता है। जहां घृणा, ईर्ष्या, द्वेष का नाम तक नहीं :

"मैं भी अब उस मनोदेश में विचरूंगा होकर स्वच्छन्द[1]
नहीं जहां पर होता रहता आपस का निसि-दिन का द्वन्द्व
साधु वेश में अमिक लुटेरे जहां न ठगने पाते हैं
चापलूस कर तोताचश्मी जहां नहीं उकसाते हैं।"

पिपासु के ये उद्‌गार, और कुछ नहीं, केवल एक भावुक कवि मन के संतप्त हृदय की भव-पीड़ा से मुक्ति के लिए एक छटपटाहट ही है। परन्तु ऐसे वचन कवि की जीवन के प्रति उदात्त दृष्टि के परिचायक जरूर हैं। क्योंकि कवि चांद-सितारों की दुनिया में केवल निजी पीड़ाओं की मुक्ति के लिये नहीं जाना चाहता। वह कठोर यथार्थ से पलायन की बात नहीं सोच रहा। वह तो पूरी दुनिया का दर्द, सभी मानवों की वेदना, व्यथा, यंत्रणा को साथ लेकर एक पुनीत उद्देश्य की प्राप्ति हेतु वहां जाना चाहता है। जहां पहुंचकर वह ईर्ष्या, घृणा, स्वार्थ और वैर-विदग्ध धरा को ठंडी बौछारों से शान्त कर सके :

"और सुभग पंखों से प्रेरित पवन झकोरों से उस ओर[2]
ले जाऊंगा जलदयान को बरसाऊंगा कर घनघोर
अनावृष्टि से जहां धरा तापित होगी निर्धन जन की
हरे खेत हो उठें मिटे वेदना सकल निर्धन जन की।"

पर ये वचन भावुकता की झोंक में कवि की मानव के त्राण की उत्कट इच्छा के परिचायक होते हुए भी केवल इच्छा तक ही सीमित रहते हैं। भावुकता में क्रियात्मकता का अभाव रहता है। यही कारण है कि भावुकता का यह ज्वार उतरते ही कवि समझ जाता है कि वह कभी भी अकेला 'जलदयान' बनकर ऐसी 'वर्षा' नहीं कर सकेगा जिससे इस धरती पर बसने वाले निर्धन, दीन-हीन पत्तों की पीड़ा कम हो सके। तब वह अपने प्रभु से तर्क-वितर्क करके उससे संसार को

१. सीमा का पंछी, पृष्ठ ४४
२. सीमा का पंछी, पृ० ५५

दुःख-दारिद्रय से मुक्त करने का अनुरोध करता है :

"सुना सुदामा सखा तुम्हारा तुमने उसको तारा[1]
मुट्ठी भर तंदुल के बदले जग का धन दे डारा
आज सदामा बने करोड़ों भारतवासी सारे
कहो कृष्ण क्यों छोड़ दिया है उनको बिना उबारे।"

दुःख-सुख को लेकर कवि ने उसका जो निरूपण 'सीमा का पंछी' में किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण आद्योपान्त, कुल मिलाकर आशावान एवं आस्थामय रहा है। वह केवल अपने वैयक्तिक घरौंदे में बंद होकर नहीं सोचता। अपना निजी रोना-धोना लेकर नहीं बैठ जाता। उसकी दृष्टि उदात्त एवं व्यापक है। वह चराचर के दुःखों से उसी तरह परेशान है जैसे वह अपने व्यक्तिगत दुःखों से। दीन-हीन निर्धन मानवों से उसे सहानुभूति है। उनकी दुर्दशा देखकर वह कराह उठता है। परन्तु उनकी मुक्ति के लिए उसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव है। वह समझता है कि भावुकता के आवेग में सोचे गए उपचारों से कुछ नहीं होने वाला। पर वह फिर उसके लपेट मे आकर उसी ओर मुड़ जाता है। यह उसके कविमन की विवशता है। अपने लम्बे अनुभव से कवि अब समझने लगा है कि आध्यात्मिक भावुकता उन्हें कहीं नहीं पहुंचाएगी। मोक्षलाभ के लिये इस दुनिया से आगे किसी दूसरी दुनिया के लिये भटकने से कुछ नहीं मिलने वाला। अनदेखे पारलौकिक सुखलाभ के लिये अपने आपको भुलावे में डालने की अपेक्षा ऐहिक जीवन को संवारने के लिए प्रयास करना कहीं अधिक श्रेयस्कर होगा। रास्ता ठीक हो तो, देर से ही सही, मंजिल मिल ही जाती है। क्योंकि वह 'करुणासागर' साहसी एवं कर्मठ जीव को कभी निराश नहीं करता :

क्या मुझे अब चाह होगी स्वर्ग की भी[2]
देखता झांकी यहीं अपवर्ग की भी
कौन देखेगा कहां मधुपर्व होगा
जब यहीं कैवल्य का सुख स्वर्ग होगा
हो गया प्रिय आप करुणागार मेरा।

लेकिन यह बात नहीं कि कवि को अपने ईश्वर से केवल अपने लिये ही शिकायत है। युगव्याप्त अन्याय और अत्याचार को देखकर वह युग की विकृत प्रवृत्तियों के कुचक्र से विचलित होकर परमात्मा से शिकायत करता है। वह पूछता है कि कितने ही अवतारों और महापुरुषों ने इस दुनिया में आकर पापों की पुंजित कालिमा को धोना चाहा, फिर क्या कारण है कि इस दिशा में किये गये भगीरथ

१. सीमा का पंछी. पृ० ६२
२. सीमा का पंछी, पृ० २८

प्रयत्न भी निष्फल रहे। पाप को पाप समझकर उसका परित्याग करने की दिशा में लोग क्यों भटक गए :

किया था रावण का संहार[1]
आर्य संस्कृति का पुनरुद्धार
राम बन तुमने ही उस बार
मिटाया पाप धरणि का भार
न हो पाई फिर भी कुछ ज्ञात जगत को पाप पतन की बात
प्रभो है कितने दुःख की बात।

१. सीमा का पंछी, पृ० २४

यथार्थ के धरातल पर

समय की प्रखर धार मनुष्य को कहां से कहां ले जाती है। जीवन-लहरियों के आरोहावरोह में, कहां से कहां जा पहुंचता है। शुरू में वह कुछ और होता है, कुछ और ही होना चाहता है मगर इस दुनिया की हवा, पानी, धूप और वर्षा, सरदी तथा गरमी सब मिलकर उसे वहां पर जा पटकते हैं जहां वह जाना नहीं चाहता था। उसे वह कुछ बना देते हैं जो वह बनना नहीं चाहता था। पर आदमी के चाहे-अनचाहे क्या होता है? उसका बनना-बिगड़ना, सुन्दर अथवा असुन्दर बनना उसके अपने हाथ में कम दूसरों के हाथ अधिक होता है।

पिपासु भी, एक सामान्य जन की भांति, इस दुनिया में कुछ होने की अपनी निजी रूपरेखा लेकर चले थे। अपने निजी सपनों को पलकों में दबाए हुए। वह भी 'कुछ होने' की विपुल आशा, उमंग और व्यग्रता लेकर आए थे। शुरू में उन्हें भी यह दुनिया निरा एक उत्सव, एक जश्न प्रतीत हुई थी। परन्तु समय बीतते-बीतते परिवेश व्याप्त क्रूर गृध्रों ने उनका मार्ग अवरुद्ध कर लिया। कविहृदय होने के कारण उनके आशा कुसुम फड़फड़ाने लगे। असमय में ही उनकी पत्तियां झड़ने लगीं तो वे कल्पनालोक में पलायन कर गए। यह सोच कर कि दुनिया ने कुछ नहीं दिया न सही कविता की दुनिया तो है, जिसमें बैठ कर वे जैसा चाहेंगे हो लेंगे। पर यह भी तो कोरी भावुकता थी। वे धोखा खा गए। जो धोखा प्रायः प्रत्येक कवि-हृदय खा जाता है। यही कारण है कि वे जब भी इस अवांछित परिवेश में से उड़ कर जाने के लिए पर खोलते, समय के गृध्र उनके पंख नोच लेते। इसी तरह होते-होते नुचे पंखों वाला यह कवि यथार्थ के ठोस धरातल को वास्तविक और कल्पना को मिथ्या एवं कृत्रिम समझने लगा। उस का कवि-विहग अवसाद के गहन तिमिर से आक्रान्त होकर रह गया। परन्तु उसके भीतर निहित जिजीविषा और आस्था उसे सम्भाले रही। पंगु, नुचा-खुचा और लुटा-पिटा होने पर भी वह इस व्यथा-वारिधि से बाहर आने के लिए छटपटाने लगा। उसने बहुत जोर मारा। पर वह जितना ज़ोर लगाता। किनारा उतना ही दूर हो जाता। दुःख-पयोधि से उबरने के इस विकट उपक्रम में वह एक के बाद एक प्रयोग करता रहा। पर फिर भी वह कहीं न पहुंचा। पहुंचता भी कैसे? उसके लिए मार्ग ही कहां था? ठीक है, साहसी

और संघर्षशील व्यक्ति अपना मार्ग स्वयं बना लेता है। परन्तु परिवेशप्रदत्त यन्त्रणाओं के बीहड़ में हर बार वह मंजिल पर पहुंच ही जाए, निश्चित नहीं होता। और फिर एक कवि के लिए तो यह काम और भी मुश्किल होता है। उसकी संघर्ष पेशियां 'कोमल' और 'सौम्य' की अभ्यस्त होती हैं; 'प्रखर' और 'प्रचण्ड' की नहीं। भव-समुद्र के मुंहजोर तरंगावलेपों से जूझने में उसकी फूलों की पतवार समर्थ नहीं होती। यही कारण है कि, बहुत चाहते हुए और बहुत जोर लगाकर भी कवि अपनी मंजिल पर नहीं पहुंच पाया। उसका विवेक पूर्णतया बौद्धिक न होकर कवि सुलभ भावुकता से आच्छन्न जो था। हां वेदना-वारिधि की इस जल-समाधि में ऊबते-डूबते उसके हाथ कुछ मौक्तिक अवश्य लग जाते थे। ये वही मोती हैं जो हमें 'सीमा का पंछी' में मानव जीवन में व्याप्त दुःख-सुख की समीक्षात्मक कविताओं के रूप में उपलब्ध हुए हैं। 'दो चान्द' वाला वह जाना पहचाना उल्लासित, उमंग भरा, यौवनोन्मत्त, उच्छृंखल, जीवंत एवं चंचल व्यक्ति 'सीमा का पंछी' तक पहुंचते-पहुंचते इस दुनिया के तेवरों को भली भांति जान गया है, इसकी छद्म-भंगिमाओं को पहचान गया है। पग पग पर मिलने वाली प्रतारणाओं ने जैसे उसका सारा रस सोख लिया है। इसी लिए 'दो चांद' वाला रसिया कवि सीमा का पंछी में दुखिया कवि हो गया है। यही कारण है कि उसे 'दो चांद' वाले अपने कल्पना-नीड़ से निकल आने को विवश होना पड़ा। छायावादी कल्पनालोक से निकल कर अब उसे धरती की वर्षा धूप, सरदी, गरमी महसूस होने लगी है। भावुकता की परोक्ष चकाचौंध में से निकल कर प्रत्यक्ष के कठोर सान्निध्य में सांस लेने लगा है। बीच-बीच में जब, अनुभूतिजन्य तिक्तता, जीवन के प्रति उसकी आस्था को डसने लगती है तो उसकी वाणी से विरक्ति भरे छन्द फूट पड़ते हैं। परन्तु उसके बीच बैठी हुई जिजीविषा उसे तत्क्षण संभाल लेती है। कभी-कभी वह विपरीत परिस्थितियों से समझौता करने की सोचने लगता है। कभी दुःख की एक दार्शनिक की भांति समीक्षा करने लग जाता है तो कभी दुःख को जीवन के शाश्वत तत्व मानकर अपने मन को राहत देता दिखाई पड़ता है। कभी दुःख को जीवन का परिवर्तनशील तत्व मानकर चलता है तो कभी दुःख-सुख से निरपेक्ष रहकर जीने का संकल्प लेता हुआ नज़र आता है। और जब परिवेश की सतत विसंगतियों-असंगतियों से मिलने वाली खरोंचों से आहत कवि के मन को कहीं भी चैन नहीं मिलता तो वह विषमता और विडम्बनाओं के संदर्भ में ईश्वर से तर्क-वितर्क करने लग जाता है। अपने व्यक्तिगत पीड़ा के घोंसले में एकाकी कराहने वाला 'दो चांद' वाला कवि अब व्यथा के राजमार्ग पर खड़ा होकर सबकी पीड़ा को अपनी पीड़ा बना कर परिवेश-प्रदत्त सारे के सारे जहर को पी जाना चाहता है। परन्तु उसके इस सारे आभास में एक कमी रह गई है। उसे कमी न कह कर उसकी व्यक्तिगत विवशता कहना अधिक ठीक रहेगा। वह दुःख की व्यापकता और सार्वभौमिकता

पर भले ही विश्वास करने लगा हो, उसे चीन्हने लगा हो परन्तु इसकी ओर वह निरे भावुक कवि की दृष्टि से विचार कर पाया है। यथार्थ के धरातल पर भी जब उसकी कवि सुलभ भावुकता प्रबल हो जाती है तो उसके पांव अपनी दिशा से फिसल जाते हैं। यह भावुकता उसे विषमताओं को निर्मूल करने के लिए उत्तेजना तो देती है परन्तु उसके मूलकारणों की ओर देखने का अवकाश नहीं देती जिन्हें युग व्याप्त विभीषिकाओं के उन्मूलन हेतु मार्ग स्थिर करने के लिए जानना जरूरी होता है। वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव में दुःखदग्ध मानवता के उद्धार के लिए निकलने वाला उद्घोष अरण्यरोदन बनकर रह जाता है।

अतएव 'सीमा का पंछी' में कवि की वचन-भंगिमा में एक निश्चित दिशा परिवर्तन जरूर हो गया है। परन्तु इस सारे आयास में एक कवि के वेदना-मथित मन के क्षोभ का ज्वार तो दिखाई दे जाता है परन्तु अपनी कुछ सीमाओं के कारण वह अपने लिए अथवा दूसरों के लिए कोई निश्चित दिशा स्थिर करने में ससर्थ नहीं हो सका है। 'सीमा का पंछी' में उसकी 'दो चांद' वाली उन्माद-तन्द्रा तो टूट चुकी है परन्तु उसका खुमार अभी कुछ बाकी है। भावना के स्तर पर उसका विवेक तो जागृत हो चुका है परन्तु बौद्धिक उद्रेक की अनुपस्थिति में वह परिपक्व हुए बिना ही उमड़ पड़ा है। कवि अपनी मंजिल तो जान गया है परन्तु उस तक पहुंचने का रास्ता नहीं बना पाया। हमारे विचार से इसका कारण यह है कि वह घनीभूत भावुकता की परतों को तोड़ कर समस्याओं का अवलोकन बौद्धिक स्तर पर नहीं कर पाया है। परन्तु यह सब होते हुए भी 'सीमा का पंछी' की यह उपलब्धि भी कोई कम महत्वपूर्ण नहीं है कि कवि की जीवन दृष्टि नपे-तुले वैयक्तिक वेदना-वृत्त से बाहर निकल कर व्यापकता और सार्वभौमिकता के व्यापक भाव-पीठ पर आरूढ़ हो चुकी है। भले ही भावनातिरेक के कारण उसकी दृष्टि धुंधली है परन्तु उसमें से टपकते हुए उसके संवेदनापूत करुणाश्रु जीवन के यथार्थ से अवगत जरूर करा जाते हैं। कोई रास्ता न दिखाते हों पर मंजिल का आकार-प्रकार जरूर बता जाते हैं।

आध्यात्मिक भावभूमि

एक आस्तिक ब्राह्मण-परिवार में जन्म लेने के कारण पिपासु का पालन-पोषण, धार्मिक और पूजापाठी वातावरण में हुआ था। उनका पैतृक निवास-स्थान भी जम्मू के एक प्राचीन सुन्दर देवालय के समीप था। इस लिए उनका व्यक्तित्व जन्म से लेकर ही धार्मिक संस्कारों से पुष्ट होता आ रहा था। ईश्वर के प्रति उनकी निष्ठा और विश्वास बहुत दृढ़ था। अवसाद के घने अंधेरे में वे इसी से शक्ति और अवलम्ब प्राप्त करते थे। यही कवच था जो उन्हें अत्यन्त विरोधी परिस्थितियों में भी टूटने से बचाता रहा।

अपने पहले कविता संग्रह 'दो चांद' में भले ही यौवन-सुलभ प्रणय के तीव्र आवेश में, प्रेयसी का सान्निध्य पाने की प्रबल आतुरता में उनका अध्यात्म पक्ष मुखर होकर सामने नहीं आता है; परन्तु यह बात नहीं कि तब वह उनमें था ही नहीं। यह प्रवृत्ति उनमें उस समय भी विद्यमान थी मगर थी प्रसुप्तावस्था में। उच्छृंखल यौवन उसे उभरने नहीं देता था। परन्तु होते होते जब जब अभाव और असफलताएं कवि को निराशा के अन्धकूप में धकेल देती तो, थोड़े समय के लिए ही सही, ये प्रसुप्त आध्यात्मिक संस्कार जागृत होकर उसकी वाणी से फूट पड़ते। इसीलिए 'दो चांद' के कुछ गीतों में उनके आध्यात्मिक उद्गार श्रृंगारिक अभिव्यक्तियों के सन्दर्भों में आ गए हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'सीमा का पंछी' तक आते-आते कवि का यौवनोन्माद शिथिल पड़ चुका था। उसका प्रणय-पीड़ित उन्मन मानस सहज और संयमित हो चुका था। सपनों की दुनिया से उतरकर पिपासु अपने पैरों के नीचे धरती का संस्पर्श महसूस करने लगे थे। यही कारण है कि इस संग्रह में उनकी सृजन-भंगिमा 'दो चांद' से सर्वथा भिन्न हो गई है। इसका प्रमाण यही है कि 'दो चांद' की तरह 'सीमा का पंछी' "दो पल तो सजनी कर लेने दो प्यार मुझे" जैसी पंक्तियों से शुरू न होकर आध्यात्मिक भावना-मंडित वचनों से शुरू होता है। जीवन के विकट संघर्ष से क्लान्त श्रान्त कवि ईश्वर की शरण में पहुंच कर अपने परित्राण के लिए याचना करने में ही अपना श्रेय देखने लगा है:

"तुम ही केवल, केवल तुम ही, बरसा कर करुणा घन[1]
शान्त करो इस दग्ध हृदय को और मधुर हो जीवन
गीत अमर गाऊं वर दो जग में नेह भरूं
देव तुम्हारे इन चरणों मे क्या-क्या भेंट धरूं।"

जब आदमी दिन-दहाड़े, सूर्य के खुले प्रकाश में भी परिवेश में व्याप्त विसंगतियों और विडम्बनाओं के गुलझट में उलझ जाता है तो उसे भगवद् कृपा को छोड़ और किसी दिशा में भी राहत नहीं मिलती। तब वह अपनी सारी यातना-यंत्रणा के लिए अपने आप ही को दोषी समझने लग जाता है। उसके मुख से दैन्य भरी उक्तियां फूट पड़ती हैं :

"मलिन वदन कृशतन मन पापी नयनन नीर[2] भरूं
देव तुम्हारे इन चरणों में क्या क्या भेंट धरूं।"

भावुकता के निश्छल पारावार में बरसों डूबते उतराते, सतत संघर्ष करने पर भी जब दुखी मन को किनारा नहीं मिलता तो उसका साहस उत्साह सब जवाब दे जाता है। पिपासु का कवि भी बहुत समय तक भव-विभीषिकाओं से जूझते-जूझते थक कर चूर हो चुका है :

'खोज खोज युग लोचन हारे[3]
मन की शान्ति कांति यौवन की
भ्रान्त रहे पर नयन बेचारे !

सब तरफ से अवहेलित, उपेक्षित एवं प्रतारित कवि को जब कहीं भी कोई आशा-रश्मि दिखाई नहीं पड़ती तो वह कभी-कभी पुनः 'दो चांद' वाली अपनी पुरानी दुनियां में लौट जाना चाहता है। जहां वह इस दुनिया से मिले गहरे घावों को सहला सके। यह वही दुनिया है जिसके संस्पर्श से तीसरे दशक के छायावादी कवि अपनी भौतिक वेदना को भुलाने का प्रयास किया करते थे। इस मनःस्थिति को भले ही कोई पलायन की संज्ञा क्यों न दे, पर एक आहत भावुक मन शान्ति और राहत की तलाश में साधनों की स्वस्थता अस्वस्थता अथवा औचित्य-अनौचित्य के विचार से निरपेक्ष रहकर, जैसे कैसे भी हो, सहज होने के लिए अकुलाता रहता है। इसी कारण 'सीमा का पंछी' में वेदना के व्यापक धरातल पर पहुंच कर भी वह कभी कभी अकेले ही, प्रकृति की सौम्य छटा में डूबकर अपने आपको भौतिक दुःखों से काट कर अलग कर लेना चाहता है। इसीलिए 'सीमा का पंछी' में भी कवि सहज होने के प्रयास में छायावादी आध्यात्मिकता के गवाक्ष में झांकने

१. सीमा का पंछी, पृष्ठ १०
२. वही, पृष्ठः १०
३. सीमा का पंक्षी, पृष्ठ १०

से अपने आप को रोक नहीं पाया :

"देख जिसको मुस्कराते हैं सुमन अनजान
और प्राची में उषा ले लालिमा छविमान
नित नई जग को दिखाती मधुर मृदु मुस्कान
यामिनी मिस घन तिमिर में जलद हो द्युतिमान
अनुसरण करते कभी हैं विश्व में पवमान।"[१]

परन्तु परिवेश व्याप्त कालुष्य से कवि हृदय पर लगे गहरे घावों के लिए प्रकृति की स्निग्ध सौम्य छटा का सान्निध्य भी मरहम का काम करने में समर्थ नहीं हो पाता। क्योंकि अब कवि की अनुभूति का फलक उत्तरोत्तर विस्तृत एवं व्यापक होता जा रहा है। अब वह घुटनों में मुंह छिपाकर, अकेले बैठकर आंसू नहीं गिराता। अब तो उसे पूरी दुनिया अपनी ही तरह विषमताओं और विसंगतियों के दर्द से कराहती नजर आती है। इस सबको देखकर उसका आस्तिक और निष्ठावान् मन ईश्वरीय न्याय के प्रति शंकालु हो उठता है। वह शिकायत भरे स्वर में पुकार उठता है—

रच उद्यान मनोहर तुमने
सुन्दर सुन्दर फूल उगाए
गुनगुन करते भ्रमर सांवले
उन पर तुमने आन बिठाए
क्या कहते हो? केवल उनका
रूप निहारें? प्यासे रहकर?
छलक रहा किस हेतु कहो तो
मधु सुमनों में अहरह बहकर?
मेरे प्रभु मेरे प्रभु तुम ही
कुछ तो इसकी करो समीक्षा
और न लो प्रभु कठिन परीक्षा।[२]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पिपासु कवि होते हुए भी सहज होने के लिए लालायित रहते हैं। कल्पनाप्रिय कवि हृदय रखते हुए भी भावुकता के आवेश से बाहर निकलकर संयत होने का बराबर प्रयत्न करते हैं। कदाचित् ईश्वरीय अनुकम्पा से निराश होकर वे सोचने लगते हैं कि मोक्षलाभ के लिए इस दुनिया को छोड़, उससे विरक्त और निःस्पृह होकर किसी दूसरी दुनिया के लिए भटकने की कोई जरूरत नहीं। अनदेखे पारलौकिक सुख-लाभ के लिए अपने आपको भुलावे

---

१. सीमा का पंछी, पृष्ठ १६
२. सीमा का पंछी, पृष्ठ २३

में डालकर तिल-तिलकर गलाने की अपेक्षा ऐहिक जीवन में सुख-शान्ति-लाभ के लिए हाथ-पैर चलाना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। रास्ता ठीक हो तो मंजिल मिल ही जाती है। क्योंकि कवि के आस्तिक मन का इष्ट 'करुणा सागर' साहसी और कर्मठ जीव को कभी भी निराश नहीं करता। यही मनःस्थिति प्रस्तुत पंक्तियों में प्रस्फुटित हुई हैं—

देखता झांकी यहीं अपवर्ग की भी
कौन देखेगा कहां अपवर्ग होगा?
जब यहीं कैवल्य का सुख-स्वर्ग होगा
हो गया प्रिय आप करुणागार मेरा।[1]

पिपासु के काव्य-चिन्तन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि वे छायावादी, वैयक्तिक परिधि के भीतर संकेन्द्रित, काव्यधारा से प्रभावित होते हुए भी व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि के व्यापक धरातल पर बैठकर चिन्तन करते हैं और लिखते हैं। उनकी पीड़ा और व्यथा, उनका संघर्ष केवल निजी उद्धार और सुख के लिए नहीं। वे आध्यात्मिकता के उस व्यापक धरातल पर बैठकर पुकार उठते हैं जहां 'स्व' की सत्ता 'सर्व' में विलीन हो जाया करती है। युग व्याप्त विकृत प्रवृत्तियों की विभीषिकाओं को देखकर कवि को दुःख के साथ साथ आश्चर्य भी होता है। कितने ही महापुरुषों तथा अवतारों ने यहां पर जन्म लेकर इस दुनिया के कलुष को धोना चाहा। चिरन्तन काल से मानवीय आदर्शों की स्थापना के लिए किए जाने वाले भगीरथ प्रयत्नों के बावजूद इस दुनिया की छवि बदल नहीं पाई। उत्तरोत्तर और अधिक विद्रूप और कुरूप होती चली गई। इस संसार की इस दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना को देखकर कवि पुकार उठता है—

"किया था रावण का संहार
आर्य संस्कृति का पुनरुद्धार
राम बन तुमने ही उस बार
मिटाया पाप धरणि का भार[2]
न हो पाई फिर भी कुछ ज्ञात, जगत को पाप पतन की बात
प्रभो, है कितने दुःख की बात?"

ईश्वरीय सत्ता के प्रति प्रगाढ़ आस्थावान होते हुए भी कवि सभी कुछ उस 'करुणा सागर' के भरोसे छोड़कर बैठ जाने में विश्वास नहीं रखता। उसका विश्वास है कि ईश्वर के प्रति निष्ठा के साथ-साथ कर्म ही मानव जीवन का मर्म है। यही कारण है उसकी समूची काव्य-कृतियों में उसकी दृष्टि, आज के सम-

१. सीमा का पंछी, पृष्ठ २८
२. सीमा का पंछी, पृष्ठ ४७

कालीन हिन्दी कवियों की अधिकांश काव्य-कृतियों की भांति, कहीं भी निषेधात्मक (Negative) नहीं रही है, सदा आशावान रही है। ईश्वरीय अनुग्रह का संबल तो होना ही चाहिए पर उसके साथ-साथ कर्मशीलता का होना भी अपेक्षित उन्नति और सुख लाभ के लिए अनिवार्य है। निष्क्रियतापूर्ण आस्था न तो ऐहिक और न ही पारलौकिक उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो सकती है। इसी कारण पिपासु 'राम' के प्रति आस्था के साथ-साथ 'काम' (कर्म) के प्रति भी चेष्टावान् रहने में विश्वास रखते हैं—

"राम कृपा बिन बने काम कब
मिटे भूख बिन काम।
शंकर करलो काम राम का
तब पाओ आराम।"[१]

लेकिन आज की यह दुनिया अवांछ्य मानवता-विरोधी प्रवृत्तियों से कुछ इस तरह से आक्रान्त हो चुकी है कि बड़े-से-बड़े जीवट वाला आदमी भी कभी-कभी यह सब कुछ देखकर उदास और विरक्त हो जाता है। उसे विडम्बनाओं और विसंगतियों का अस्तित्व शाश्वत और अभेद्य नजर आता है। ऐसी बातों और परिवेश व्याप्त विद्रूपताओं को देखकर पिपासु अपने आपको संयत रखने और सहज रहने की प्रबल चेष्टा करते हैं। परन्तु फिर भी कभी-कभी 'आग-उगलता' जीवन देखकर उनकी उक्तियां विरक्तिपरक भंगिमा लेकर फूट पड़ती हैं—

"संसार तुम्हारा ऐसा है जिसमें दुःख का कुछ लेश नहीं
जीने मरने का पचड़ा है मनभाती भाषा वेश नहीं
लोभी क्रोधी कपटी कामी इन्सान यहीं तो रहते हैं
संघर्ष नहीं जिस देश में हो ऐसा कोई भी देश नहीं
खोया-खोया सा क्यों न रहूं जब जीवन आग उगलता है।"[२]

परन्तु एक आस्थावान कवि हृदय इस नैराश्य की कुहा से बहुत जल्दी बाहर निकल आता है। जीवन में व्याप्त विभीषिकाओं की विकटता के सन्मुख वह कभी भी आत्म-समर्पण नहीं कर सकता। और इस विरक्ति की अंधेरी कोठरी से उबरने में परमेश्वर को छोड़ और कौन सहायक हो सकता है ? उदासीनता के इस समुद्र के बीच में से कवि की असीम सत्ता के प्रति दृढ़ आस्था उसे पुनः भव-दुःख-मोचन के लिए ईश्वर के सम्मुख करबद्ध करके प्रस्तुत करती है—

---

१. सीमा का पंछी, पृष्ठ ७६
२. सीमा का पंछी, पृष्ठ ८५

"मोहन मोहक मंत्र फूंक दो मुरली मधुर बजाकर
एक बार तो फिर चुंधिया दो नूतन साज सजाकर
एक बार फिर पीताम्बर की पीत झलक दिखला दो
एक बार फिर प्रेम नदी में सारा जग नहला दो"[1]

इस सारे विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'सीमा का पंछी' का कवि अपनी निजी पीड़ा को जग की पीड़ा में विलीन करके 'निज' की जगह 'सर्व' के परित्राण के लिए व्यग्र है। विषमताओं से मुक्ति लाभ की छटपटाहट में उसकी उक्तियां प्रस्तुत संग्रह में दो तरह की भंगिमाएं सामने लाई हैं— निराशा प्रसूत विरक्तिपरक और आस्थाजनित अध्यात्मपरक। परन्तु आशा-निराशा की इस धूप-छांव के बीच ऊझते जूझते पिपासु की भावभूमि का प्रबल पक्ष फिर भी आस्था मंडित अध्यात्म का ही ठहरता है। अब सवाल उठता है कि मूलतः परमेश्वर की सत्ता के प्रति सतत आस्थावान होते हुए भी कवि बीच-बीच में कभी कभी विरक्ति और नैराश्य भरे काव्य-उच्छ्वास क्यों छोड़ने लगता है? इसका कारण, हमारे विचार से, यही हो सकता है कि इस दुनिया में जन्म लेकर कवि के हिस्से में विष-ही-विष आया है। वह अपनी सारी सांसों में आजीवन बूंद भर सुखामृत के लिए निरन्तर तरसता रहा है। इसी लिए विषाक्त जीवन को मारक परिस्थितियों में जब वह विचलित हो उठता था तो वह असहज हो जाया करता था। उसकी दृढ़ आस्था और विपुल निष्ठा, विरोधी परिस्थितियों की ताब न लाकर, डगमगा उठती थी। तब वह असंयत होकर अकुला उठता था। 'सीमा का पंछी' की नैराश्य-वैराग्यमय उक्तियों के पीछे उसकी यही असहज मनःस्थिति अभिव्यंजित हुई है। वह एक ही सांस में आहत मन की पुकार को वाणी देते हुए कह उठा है—

"मैं इनमें यों पिसता रहता
ज्यों धरती पाताल व्योम में
जाने कब तक हुआ करूंगा
हवि सा अर्पित जगत होम में।"[2]

इन पंक्तियों में कवि अपने दिल के घावों को नंगा करके दिखाता है पर तुरन्त उसकी अस्तिक्य-पूत आस्था उसे संयमित कर देती है। वह दूसरी ही सांस में कह उठता है—

इच्छा[3] ही से तो आशा है
आशा जीवन 'का जीवन

---

१. सीमा का पंछी, पृष्ठ ६२
२. सीमा का पंछी, पृष्ठ २५
३. सामा का पंछी, पष्ठ २४

इच्छाहीन कहो तो जीवन
जी सकता है कितने क्षण।

इस प्रकार 'सीमा का पंछी' में पिपासु के कवि का अध्यात्म पक्ष बहुत मुखर होकर एकाधिक भंगिमाओं में प्रस्फुटित हुआ है। संग्रह के आद्योपांत अध्ययन से पाठक का एक ऐसे आस्थावान् कवि से साक्षात्कार होता है जो अतिविषम परि-स्थितियों में रहकर भी ईश्वर के प्रति अपनी प्रगाढ़ निष्ठा को स्थिर रखने में सक्षम है। जब कभी उसे अपनी आस्था डगमगाती हुई दिखाई पड़ती है वह तुरंत अपने आपको संभाल लेता है। ईश्वरीय सत्ता के प्रति उसकी आस्था अदम्य और दुर्भेद्य है। आस्था का ऐसा वरदान शायद ही आज के किसी कवि को प्राप्त हो।

शृंगारिकता

'दो चांद' पर बात करते समय, पिछले पन्नों में हमने पिपासु के कवि का मुख्य स्वर शृंगार बताया है। यह एक स्वाभाविक तथ्य है कि कोई भी रचनाकार अपना लेखन जिन भाव-सूत्रों से आरम्भ करता है वे उसकी रचनाशीलता में से कभी भी पूर्णतया विलुप्त नहीं हो पाते। बाद में भले ही उसके कथन के स्वर अपनी विकास यात्रा के सोपानों पर से गुजरते हुए एक या एकाधिक भावदिशाओं की ओर मुड़ जाएं पर वह, कभी-कभी बहुत चाहने पर भी, अपनी उस आरम्भिक भावभूमि से अपने आपको पूरी तरह से विच्छिन्न नहीं कर पाता। वह प्रवृत्ति, कभी-कभी अनचाहे में भी, उसकी रचनाओं में अपनी चौंध दिखा जाती है। 'दो चांद' के रचना काल, १९३०-४५ में कवि पूर्ण यौवन में था। उसके अध्ययन की सामग्री प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, मैथिलीशरण और बच्चन की काव्य-कृतियां थीं। इनकी छायावादी, हालावादी, आदर्शवादी और राष्ट्रीय चेतना-मूलक प्रवृत्तियों ने कवि को बहुत प्रभावित किया था। कवि की उर्दू कविता में भी, शुरू-शुरू में, बहुत रुचि थी। उन्होंने कविता लिखना तो शुरू ही उर्दू में किया था। इसलिए छायावादी, हालावादी हिन्दी कविता के साथ-साथ, उस समय की दिलफेंक आशिकाना उर्दू कविता का भी कवि पर बहुत अधिक प्रभाव था। यही कारण है कि उसकी कविता में दोनों तरह की (हिन्दी तथा उर्दू) शृंगारिकता की छाप मिलती है। इसीलिए कवि की रचनाएं न तो पूरी तरह छायावादी भावधारा पर चल पाई हैं और न ही उनमें उर्दू पद्धति का ही पूरी तरह अनुसरण दिखाई पड़ता है। इन दोनों पद्धतियों का एक मिला-जुला रूप ही उनकी शृंगारिक रचनाओं में दृष्टिगत हुआ है। पर इन दो विभिन्न काव्यधाराओं के प्रभाव के कारण कवि न तो पूरी तरह से उर्दू कविता की शृंगारिकता अपना पाया है और न ही छायावादी धारा के अनुरूप (भाव और शिल्प दोनों दृष्टियों से) अपने आपको पूरी तरह ढालने में समर्थ हो पाया है। कुछ गिनती की विशुद्ध उर्दू पद्धति की और विशुद्ध हिन्दी की शृंगारिक पद्धति की रचनाओं को छोड़ उसकी लगभग सभी शृंगारिक रचनाएं, दोनों का मिला-जुला रंग लिये रहने के कारण, किसी एक पद्धति की काव्य-कृतियां नहीं कही जा सकतीं। इस दृष्टि से सीमा

का पंछी' की श्रृंगारिक रचनाएं भी 'दो चांद' की कविताओं से बहुत भिन्न नहीं है।

'सीमा का पंछी' तक पहुंचते-पहुंचते पिपासु का यौवन-ज्वार मंद पड़ चुका था। वह चंचलता और उच्छृंखलता विलुप्त हो चली थी। और इस सबसे बढ़-कर, जीवन-भर मिलने वाली असफलताओं और विपरीत परिस्थितियों ने कवि को इस बुरी तरह से आहत कर दिया था कि उसका चंचल, उच्छृंखल और प्रणयातुर मन अपने दर्द को भ्रमर और शूल के, दीपक और शलभ के, चुम्बक और लोहे के आकर्षण की भांति शाश्वत और नित्य जान कर; अपने आपको एक मीठे भुलावे में डालकर; जीवन की अवशिष्ट सांसों को चैन से लेने का यत्न करता हुआ दिखाई पड़ता है।

दीप शिखा को देख दूर से शलभ सदा जलने को आते
रोज़ रात को दीपक जलते रोज़ शलभ भी जलने आते
दोनों को है स्नेह जलाता, पर दोनों कब हैं पछताते
युग-युग से जग देखे, दोनों रोज़ प्रीत के गाने गाते
पूछो तो क्यों दोनों जलने को होते बौराते कोई
अपनी भूल न माने कोई।[1]

यद्यपि 'सीमा का पंछी' तक आते-आते पिपासु का यौवन-ज्वार उसकी मादकता, चंचलता, उच्छृंखलता तथा कायिक संयोग की लालसा प्रौढ़ावस्था को पार करते-करते बहुत कुछ शान्त हो गई थी, परन्तु फिर भी कभी-कभी उसका चिर-तृषित मन उस ओर बरबस उमड़ पड़ता है। जीवन के आरम्भिक वर्षों में जन्म लेने और पनपने वाली प्रवृत्तियों को आदमी बहुत उम्र बीत जाने पर भी विस्मृत करने और अपने चिन्तन से पूर्णतया विच्छिन्न करने में समर्थ नहीं हो पाता—

"दोनों ही संग संग रहते हों, दोनों ही संग-संग बहते हों
प्यार भरी बातें करते हों, दोनों संग-संग दुःख सहते हों
फिर न कहो क्यों भुज-भर मिलती
दोनों ओर जवानी पलती"।[2]

शारीरिक संसर्ग की भूख कुछ इस तरह से कवि के रोम-रोम में रच-पच चुकी है कि प्रौढ़ावस्था को पार करते-करते भी उसका मन अपनी उस पुरानी यौवन भर तिल-तिल भोगी झेली हुई भूख को अभिव्यंजित करने के लोभ का संवरण नहीं कर पाता है। वह भूख बरबस उसकी वाणी से फूट पड़ती है—

१. सीमा का पंछी, पृष्ठ २७
२. वही, पृष्ठ २७

"मैंने तो समझा था रानी मन की प्यास बुझा पाओगी
मैंने तो समझा प्राणों का आकुल देश बसा जाओगी
भरसक भूले-भटके भूखे मन ने प्यार न पाया रानी
आई वेला, विदा, न कुछ तो गीत मिलन का गाया रानी
अब तो होठ सिये जाता हूं
आंसू पीता गम खाता हूं।"[1]

ऊपर दिए गए दोनों उद्धरणों में उर्दू-काव्य पद्धति की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। कवि बार-बार अपनी 'प्रिया', 'प्रेयसी' रानी का स्पर्श, आलिंगन, चुम्बन पाने को लालायित दिखाई पड़ता है। हां एक बात जरूर है। इतना सब होते हुए भी वह उस पुरानी, बीच-बीच में उभरने वाली, कायिक संसर्ग की भूख के क्षणिक आवेश को दबाकर, तुरन्त संयत होने का प्रयत्न करता हुआ दिखाई देता है। वह इस वास्तविकता के प्रति सचेत है कि अब वह उस वय को पार कर आया है जब उसे यह सब मिलने की आशा हो सकती थी और उसे पाकर वह आनन्द लाभ कर सकता था। हां, बरसों झेलीं हुई उस लैंगिक सम्पर्क की भूख से वह कुछ इस प्रकार से टूट चुका है कि अब वह कुछ गिनती के उन बीते हुए मिलन के मधुर क्षणों को विस्मृत नहीं कर सकता जो यौवन काल में उसे, कभी-कभी मरु में बरसने वाली वर्षा की चन्द बूंदों की तरह प्राप्त हुए थे—

"उस दिन जिस दिन तुम मुस्काईं
उपवन की कलियां चमक उठीं
उस दिन जिस दिन तुमने गाया
मदमाती कोयल कुहुक उठी
उस दिन जब प्यार हुआ तुम से
दुनिया ही मेरी बहक उठी
जब तेरी सुरभित सांसों से
थी सारी दुनिया महक उठी
चुम्बन का जब मधुदान किया
क्या भूलूं? बोलो उस क्षण को
मैं भूल न पाता उस दिन को।"[2]

परन्तु जिजीविषा और उसके लिए जी-तोड़ संघर्ष मानव की आदिम और मूल प्रवृत्तियां हैं। विषम से विषम एवं परम विरोधी परिस्थितियों में भी वह जीने का, भली-भांति जीने का न सही, सांस भर लेने का रास्ता निकाल ही लेता

१. सीमा का पंछी, पृष्ठ ३१
२. वही, पृष्ठ ३६

है। जब उसका परिस्थितियों पर वश नहीं चलता तो भी वह जीने का कोई न कोई मार्ग ढूंढ़ ही लेता है। इस प्रक्रिया में कभी वह अपनी नियति को दोष देता है तो कभी दूसरे लोगों को कोसता है। और फिर कभी अपनी व्यथा-वेदना को अपनी ही किसी भूल का परिणाम मानकर संतोष कर लेता है। पिपासु का थका-हारा प्रेमी-मन भी अब पश्चात्ताप के मरहम से अपने घावों को पूरना चाहता है—

"अब इस मन को कौन संभाले
कौन प्रीत के गीत सुनाए
बेदर्दी जग दर्द न जाने
योगी बन पाखंड दिखाए
पछताऊं जीवन पुस्तक में क्यों प्रेमाक्षर छाप दिया था
अब जाना है पाप किया था।"[1]

'सीमा का पंछी' में भले ही कवि की भावभूमि और अभिव्यक्ति, दोनों में 'दो चांद' की तुलना में बहुत परिवर्तन आ चुका है, परन्तु चौथे दशक में छायावादी धारा का जो प्रभाव कवि ग्रहण कर चुका था वह उत्तरोत्तर कम होता गया। इसी कारण प्रस्तुत काव्य-संग्रह में उसका आभास केवल दो गीतों में ही मिलता है। पर ये कतिपय गीत भी अपने आप में विशुद्ध छायावादी गीतों की कोटि में रखे जा सकते हैं। कवि प्रकृति की अनन्त सौन्दर्यमयी एवं सुषमापूर्ण छवि के सम्मोहन से सम्मुग्ध होकर उसके रहस्यपट को अनावृत्त करने को व्यग्र दिखाई देता है। उसका जिज्ञासु मन पुकार उठा है—

"है वह कौन सी मुस्कान
देख जिसको मुस्कुराते हैं सुमन अनजान
और प्राची में उषा ले लालिमा छविमान
नित नई जग को दिखाती मधुरमृदु मुस्कान
दामिनी मिस घन तिमिर में जलद हो द्युतिमान
अनुकरण करते कभी हैं विश्व में पवमान
हरितिमा से हरित होकर मेदिनी चहुं ओर
है न फूली ही समाती देख जो मुस्कान"[2]

एक अन्य छायावादी कोटि के विशुद्ध गीत में कवि ने प्रकृति को आलम्बन के रूप में लिया है। उसे प्रकृति जड़ न होकर सजीव और सप्राण, निष्ठुर न होकर अत्यन्त संवेदनशील प्रतीत होती है। वह उसके साथ हंसती है, रोती है, उसके कानों को सहलाती है। परन्तु कवि की यातना इतनी गहरी, रोम-रोम, अंग-अंग

१. सीमा का पंछी, पृष्ठ ३८
२. वही, पृष्ठ १६

रची हुई इतनी अदम्य और व्यापक है कि वह संयम का बांध, उसके सारे अवरोध तोड़कर बह निकलती है। उसके इस पीड़ा भरे आहत हृदय के लिए प्रकृति के शान्त, सौम्य सौन्दर्य के विपुल कोष में भी कोई राहत नहीं, कोई मरहम नहीं। कुछ इसी प्रकार की मनोव्यथा कवि की निम्न पंक्तियों में मुखर हो उठी है—

"आती ले रजनी अलबेली
तारों की मुस्कान पहेली
और लिये संग नींद सहेली।
जो बहलाती है दुनिया को
किन्तु न मुझको सहला पाती
बहला पाती नहीं हास से
अपलक मैं अपना मन खोता
मेरा रोम-रोम क्यों रोता ?"[1]

यह गीत छायावादी कवियों में महादेवी के आत्मव्यथा निवेदन की पद्धति के अनुरूप तो नहीं उसके आस-पास जरूर ठहरता है। क्योंकि महादेवी की भांति पिपासु में टीस और दर्द तो है मगर दुःख और अवसाद के प्रति वैसी गम्भीरता और व्यापकता नहीं है। लेकिन यह सब होते हुए भी, यह कहा जा सकता है कि ऊपर उद्धृत दोनों गीत पिपासु के छायावादी शैली के प्रभाव में लिखे गये गीतों में श्रेष्ठतम हैं।

'सीमा का पंछी' तक आते-आते, यद्यपि पिपासु छायावादी परिवेश और पद्धति से काफी दूर यथार्थ के धरातल पर खड़े होकर काव्य-चिन्तन करते दिखाई पड़ते हैं, परन्तु 'सीमा का पंछी' में ऐसे गीतों को शामिल किए जाने से कवि की, छायावादी कल्पना लोक में डूबकर, आत्मविस्मरण के प्रति गहरी अनुरक्ति स्पष्ट हो जाती है। परन्तु 'सीमा का पंछी' तक आते-आते कवि काफी संयत हो गया है। भावुकता का आवेश जब कभी उसे आत्मविस्मरण की ओर उन्मुख करता है तो बहुत चाहते हुए भी वह ठोस और अंग-अंग कचोटते यथार्थ को भूलने में अपने-आपको असमर्थ पाता है—

"जग कहता राका आई है, रजनी गन्धा है मुस्काती
समझा करता, अमा निशा भी आई उसको है रुलवाती
आंसू फूल गिराती गंधा, कहां अमरता की निधि पाऊं
जीवन गीत भला क्या गाऊं ?"[2]

---

१. सीमा का पंछी, पृष्ठ १६
२. वही, पृष्ट १३

अप्रकाशित रचनाएं

पिछले पन्नों में पिपासु की समकालीन परिस्थितियों, उनके जीवन एवं व्यक्तित्व के अतिरिक्त उनके दो प्रकाशित कविता-संग्रहों, 'दो चांद' तथा 'सीमा का पंछी' को दृष्टि में रखकर उनके कवित्व पर भी विचार किया गया है। पिपासु-सम्बन्धी सामग्री की खोज में उनके घर से दो पाण्डुलिपियां भी प्राप्त हुई थीं। इनका नामकरण कवि ने 'जीवनगान' तथा 'अनजान साधना' नामों से किया है। इन पाण्डुलिपियों को देखकर लगता है कि वे अपनी इन रचनाओं को, अपने जीवन के अन्तिम दिनों में, यथाशीघ्र प्रकाशित करवाने के लिए व्यग्र थे। परन्तु दैव को शायद यह मंजूर नहीं था। किसी ने ठीक ही तो कहा है—'सामान सौ बरस का कल की खबर नहीं।'

इन दोनों पाण्डुलिपियों को ध्यान से देखने पर लगा कि दोनों की सामग्री में कोई विशेष अन्तर नहीं है। लगता है जैसे कवि पहले इस संग्रह को 'जीवनगान' नाम से प्रकाशित करना चाहता था परन्तु बाद में उसने उन्हीं रचनाओं की संशोधित एवं किंचित परिवर्धित कर पाण्डुलिपि तैयार की, जिसे वह 'अनजान साधना' के नाम से प्रकाशित करवाना चाहता था। इस धारणा की पुष्टि कवि के घर से मिले प्रस्तावित प्रकाश्य कविता संग्रह के मुखपृष्ठ के डिज़ाइन से भी हो जाती है। अतः अगले पन्ने पर दोनों पांडुलिपियों पर अलग-अलग विचार न कर के एक साथ ही विवेचन किया जाएगा।

जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है, पिपासु परम्परा के साथ पूरी तरह से प्रतिबद्ध कवि थे। १६२०-३० की काव्य-पद्धति ने उनकी प्रतिभा को मुखरित किया था। इसलिए, कविता के स्वरूप के विषय में उनके विचार सुनकर ऐसा लगता था जैसे आज की कविता, कविता न रहकर एक मज़ाक बनकर रह गई है। फिर भी जमाने के बदले तेवर देखकर उन्होंने नवीन काव्यधारा को पकड़ने की कोशिश जरूर की। परन्तु उन्होंने अपनी लेखनी को नई काव्य प्रवृत्ति के अनुरूप ढालने का प्रयास उस उम्र में शुरू किया जब आदमी अपनी भंगिमा अथवा अपनी लेखन-प्रवृत्ति को बहुत चाहने पर भी नहीं बदल सकता। फलतः उनके ऐसे प्रयास कोई उल्लेखनीय रचना नहीं दे सके। इसीलिए आलोच्य पाण्डुलिपि

में कवि की छवि 'दो चांद' अथवा 'सीमा का पंछी' से किसी रूप में भी भिन्न नहीं है। उनकी जीवन दृष्टि, भाव दिशा, कथ्य-भंगिमा, भाषा, शिल्प एवं शैली में किसी तरह का विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता। पिपासु से कई बार बात-चीत करने पर ऐसा लगता था कि वे पिछले चार-पांच दशकों में जनजीवन में आए कई अवांछ्य परिवर्तनों की भांति कविता के क्षेत्र में आए परिवर्तनों को भी दूषित और त्याज्य समझते थे। पुराने मोह और तज्जनित भावुकता का अतिरेक उनके भीतर बौद्धिक विवेक को उभरने नहीं देता था। 'नया', बहुत कुछ बेहतर और वांछ्य होने पर भी उन्हें पसंद नहीं आता था। पुराने के प्रति दृढ़ आस्था के कारण ही वे नये जीवन-मूल्यों तथा बदले काव्य रूपों को संदेह की दृष्टि से देखते थे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बदलने की क्षमता उनके भीतर निःसंदेह थी मगर बदलना उन्हें पसंद नहीं था। यही कारण है कि वे अन्त तक अपने उसी तीन चार दशक पुराने काव्य-वृत्त के बीच खड़े रहे, जहां से वे चले थे।

अनजान साधना

'अनजान साधना' की पाण्डुलिपि को पढ़कर 'दो चांद' और 'सीमा का पंछी' वाला भावुक, आस्तिक, आस्थावान तथा अपार विसंगतियों और विडम्बनाओं तथा घने अवसाद के बीच भी जिजीविषा और संघर्ष का आंचल न छोड़ने वाला कवि ही सामने आता है। चतुर्दिक व्याप्त वेदनाओं और प्रतारणाओं से ऊझते-जूझते कभी निराशा की घनी कुहा कवि के मन की दृढ़ आस्तिकता को भी डग-मगा देती है। परन्तु फिर कवि की जिजीविषा उसकी आस्था उसे अवसाद की अतल गहराइयों में डूबने से बचा लेती है। उसकी धारणा बन जाती है कि आग और पानी, फूल और कांटे, दुःख और सुख, जीवन के दो अनिवार्य उपकरण हैं। इनके विना जीवन जीवन नहीं। इनके भीतर हंसते-रोते जीते जाना ही जीवन है—

सरिता जीवन सुख दुख कूल
संग-संग ये कर्मानुकूल
चुभता क्यों इक बनकर शूल
भावे क्यों दूजा हो फूल
इनका जग से है अभिसार
किस हित जीवन जीवन भार

कवि का आशावादी मन उसे विषमतम परिस्थितियों में भी टूटने से बचा लेता है। जीवन में मिली यातनाओं में डूब जाने से आदमी आदमी नहीं रहता। उसके लिए यह दुनिया नहीं रहती। अभावों की झंझा में तिनके की तरह उड़ जाने वाला मनुष्य भी भला क्या मनुष्य है? नहीं।

जन्म-जन्म से आए तरसते
जिसके पद को
पाया उसको भूल, भूल
फिर विश्व भयद को।

इस भयद विश्व के भय से भीत होकर भी भला आदमी कब तक जी सकता वह तो जीवन के भरे बाज़ार के बीचों-बीच जिन्दगी का तमाशा देखता हुआ

चलता है। और तब युग व्याप्त विषमताओं से दुखी होकर कवि पुकार उठता है :

एक मांगे भीख पर जन जन उसे ठुकराय।
एक सिंहासन पे बैठा बन रहा करतार॥

परन्तु इस भव-यातना की धार बहुत प्रखर है, इसकी रात बहुत ही स्याह और बहुत ही लम्बी है। इसी लिये जब आदमी जीवन के दुःखों और यातनाओं से टूटने लगता है तो अपने त्राण का दूसरा कोई रास्ता न पाकर ईश्वर की शरण पकड़ता है। पिपासु के भावुक मन को जब युगव्याप्त विभीषिकाएं बुरी तरह आहत कर देती हैं तो वह अपने परमेश्वर की शरण में जाकर पुकार उठता है :

"सुमन सौरभ सरसाते रहो
इस मेरे जग दीन हीन को हर्षित हो हर्षाते रहो।"

परन्तु ईश्वरीय न्याय यदि मिले भी तो बड़ी देर से मिलता है। उसे पाने के लिये **कठिन तपस्या में से गुजरना** पड़ता है। इसी लिये कभी-कभी, आस्थावान आस्तिक होते हुए भी कवि का धीरज टूट जाता है। जैसा कि ग्रंथ के शुरू में कहा गया है, कवि को जिन्दगी में फूल तो शायद ही कहीं मिला हो, हां काटों की कभी कमी नहीं रही। इसलिए बार-बार मिलने वाली पीड़ा से उसका कराह उठना स्वाभाविक ही है :

"उत्सुक होंट हुए फूलों को
चुम्बन को पर कांटे पाए
मेरे जीवन के प्रभात ने
ही संध्या के साज सजाए।"

परन्तु अवसाद का घेरा एक निष्ठावान आस्तिक मन को अधिक समय तक आतंकित नहीं रख सकता। यही कारण है कि पिपासु की संघर्षशीलता, उसका ईश्वर पर दृढ़ विश्वास तुरन्त जीवनप्रदत्त अवसाद की काली चादर को उड़ा ले जाता है। कवि दारुणतम दुखों को तुच्छ समझ कर आगे बढ़ जाता है :

"झूम झूम रे सजग बटोही—जीवन पथ के
रहे अभीष्ट न तुझे उतरना—काया रथ से"

मानव की अनंतकाल से यही विडंबना रही है कि उसे अपना चाहा हुआ कभी भी पूरा का पूरा नहीं मिल सका। उस अधूरे को पूरा करने का नाम ही जीवन है। और न मिले हुए को पूरा करने की भावना ही प्राणिमात्र को और अधिक जीने के लिये प्रेरणा देती आई है। हर कोई यहां प्रतिपल अपने अधूरेपन को पूरा करने में लगा है। तब भला यहां कोई एक दूसरे को क्या दे सकता है? कोई दूसरे की पीड़ा को भला कैसे सुन सकता है, उसके आंसू कैसे पोंछ सकता है? यहां पर तो हर कोई अपनी ही पीड़ा सुनाने को व्यग्र है! दूसरे की पीड़ा सुनने का किसी के पास अवकाश कहां? प्रस्तुत पंक्तियों में पिपासु ने इसी भाव को

अभिव्यंजित किया है :

"मन की पीर न कोई जाने कोई जाने
मन की बात न कोई माने कोई माने
झूम झूम रे सजग बटोही जीवन पथ के
रहे अभीष्ट न तुझे उतरना काया रथ से।"

सामान्य जन की अपेक्षा एक उदात्त हृदय व्यक्ति ही कवि हृदय बन पाता है। सत्कवि की दृष्टि 'निज' की अपेक्षा 'सर्व' की ओर केन्द्रित रहती है। इसीलिये तो पिपासु का कवि हृदय उतना अपने निजी दुःख से दग्ध नहीं जितना वह भव-दुःख से पीड़ित और व्यथित है। अपने दुःख की शाश्वत पीड़ा में तो वह जन्म से ही तड़पता आ रहा है। परन्तु दूसरों का दर्द उससे देखा नहीं जाता। अपने परिवेश को बदलने की चाह रहते हुए भी जब वह कुछ नहीं कर पाता तो जग-पीड़ा से अकुला कर कराह उठता है :

"भव दुःख दूर नहीं कर सकता
भव सुख अधिक नहीं कर सकता
विष की सुधा नहीं कर सकता
केवल लोचन ही भर सकता
फिर भी हाय खला करता हूं
अपने आप जला करता हूं"

आस्था आस्तिक मन का संबल तो बनती है मगर कभी परिवेश में चलने वाली झंझा के तीव्र आघात उसे छिन्न-भिन्न करने लगते हैं। आदमी अपनी आशाओं के टुकड़ों को जोड़ने के लिये तड़प उठता है। ऐसी स्थिति में पहुंचकर एक आस्तिक मन को अपनी टूटती हुई आस्था को बचाने के लिये कोई मार्ग तो चाहिए। इसके लिये प्रभुशरण से श्रेष्ठतर दूसरा कौन सा मार्ग हो सकता है। कवि भगवान की शरण में पहुंच विनय प्रणत होकर विश्वमांगल्य के लिये पुकार उठता है :

"राम तेरा नाम ही सुखधाम है
जो संवारे सकल जग के काम है।"

बदलती परिस्थितयों और आमूल परिवर्तित परिवेश के अनुरूप अपने आप को ढालना कोई आसान काम नहीं। पिपासु के देखते ही देखते इस जमाने को क्या से क्या हो गया। चिरस्थापित जीवन-मान, मूल्य और मान्यताएं छिन्न-भिन्न होकर रह गईं। जीवन मानों के साथ ही साहित्य और कविता के मान भी बदल गये। जीवन और साहित्य दोनों के इस बदले स्वरूप के साथ कवि अपनी अन्विति नहीं बिठा सका। इसका कारण ऊपर से देखने पर कवि की कमजोरी अथवा असमर्थता लग सकती है। परन्तु हमारे विचार में इसके पीछे भावुकता का वह अतिरेक है

जो उसे पुराने के साथ बांधे हुए है। इसीलिये वह वर्तमान की व्यथा को समझ कर उससे आगे देखने की जगह अतीत के भोगे हुए भव्य परिवेश में से बाहर नहीं निकलना चाहता। जब कभी उसे वर्तमान अधिक गहरे में कचोटने लगता है तो उसका कल्पनालोक उसे अपनी शरण में बुला लेता है। वह पुनः छायावाद के झीने छायालोक में ऊबने-डूबने लग जाता है। ऐसे कल्पनाजगत की चौंध में वह यथार्थ से दूर निकल कर, 'जो है' उससे पीछे पड़ जाता है। अपनी कल्पना से 'जो और जैसा होना चाहिए' ऐसे जगत का चित्र खींचने में लग जाता है। उस अवस्था में कदाचित् वह यह भी भूल जाता है कि जिस सुन्दर संसार का चित्र वह बना रहा है वह इस दुनिया के बीच कभी भी आकार ग्रहण नहीं कर सकता, कम से कम उसकी जीवनावधि में कभी नहीं। परन्तु उसका भाव-जगत में रमा मन यथार्थ से कहीं अधिक इस मधुरम गायन में अपनी पीड़ा का निर्वाण देखता है। उस समय वह यह भी भूल जाता है कि भाव-जगत के स्वच्छन्द विहार के क्षण इने-गिने होते हैं। थोड़ी देर बाद वह फिर उसी जलती सुलगती सड़क पर झुलसने के लिये लौट आएगा। निकट भविष्य में मिलने वाली उसी पुरानी व्यथा को विस्मृत करके वह अपनी कल्पित नव्य-भव्य सृष्टि की कल्पना में लीन हो जाता है :

"नव उषा हो सांध्य नभ हो नवल जलधर
नव निशा हो दिवस नव हो सतत प्रियतर
सतत निशिकर पूर्ण हो नव अर्क शीतल
ग्रीष्म में भी तेज जिसका हो नखरतर
हो जहां अपनत्व का ही गान वन्दन
बन गया अमरत्व मेरा आज बंधन।"

परन्तु यथार्थ विस्मरण भी कितना टिकाऊ हो सकता है? भावविह्वलता की झोंक स्लीपिंग पिल से मिली क्षणिक तन्द्रा से अधिक राहत नहीं दे सकती। कल्पनालोक से यथार्थ तल पर उतरते ही कवि का मीठा सपना सहसा टूट जाता है। वह फिर से तड़प उठता है :

"शून्य उर के घाव तारक
आप जो लसते निरन्तर
क्या इशारों से नहीं वे
हैं सुनाते आज निज दुःख
वेदना को भी कहां सुख"

कवि देखता है कि उसके आसपास अपहरण, शोषण, उपेक्षा, अवहेलना, दुःख, विषाद सभी को चाटे जा रहा है। उसका कवि आर्त्तनाद कर उठता है :

"कितनी कलियां जो खिलने से
पूर्व न आंसू बरसातीं

कितने फूल न हंसते ही
जिनकी आशाएं लुट जातीं।"

अनुभूति के स्तर पर कवि ने छठे-सातवें दशक के बीच जो कुछ भी सहा, झेला, देखा और महसूस किया, उसे उसने ज्यों का त्यों अभिव्यंजित करने का प्रयास 'अनजान साधना' में संकलित गीतों में किया है। इन सभी गीतों के बीच यह तथ्य स्पष्ट होकर सामने आया है कि भावुकता का आवेश कवि की मजबूरी है, जिससे संप्रेरित होकर वह, वस्तुस्थिति के धरातल से फिसल कर, कल्पना के छायालोक में पहुंच कर निजपीड़ा और भवदुःख को विस्मृत कर के अपनी वांछ्य दुनिया का निर्माण करने लग जाता है। उस भावुकता की झोंक में बहकर वह अपनी कल्पना-निर्मित जगप्रतिमा की संभाव्यता से भी आंखें मूंद लेता है। सक्षेप में वह 'दुनिया ऐसी होनी चाहिये' से आगे बढ़कर विवेक के धरातल पर खड़ा होकर यह कभी नहीं सोचता कि ऐसा कैसे संभव हो सकेगा; हो भी सकेगा या नहीं। परन्तु इसमें हम कवि को दोष नहीं दे सकते। वह परम्परा से प्रतिबद्ध होने के कारण बौद्धिकता को कविकर्म का अंग मानने को तैयार नहीं। कवि जीवन के आरंभ में प्राप्त काव्य-संस्कारों ने उसके भीतर इसके लिए गुंजायश भी तो नहीं छोड़ी है। बीच-बीच में जब कहीं यथार्थ के कटु आघात से उसके भीतर विवेक के स्तर पर चिन्तन का प्रस्फुटन होने को होता है तो तुरन्त उस पर भावुकता हावी हो जाती है। वह भवजन्य दुःख को विस्मृत करने के लिए कल्पना की मादक गोद में डूब जाता है। वह उस पीड़ा में अपने आप को रंग लेता है, वह यह नहीं सोचता कि पीड़ा ओढ़ने की चीज नहीं सोचने की उत्तेजना भरने वाली वस्तु है। इसी कारण वह पीड़ा को ओढ़कर बैठ जाता है :

"वेदना जग की अपरिमित
बन गई शृंगार कवि की।"

पिपासु के साथ एक बार बातों-बातों में ऐसा महसूस हुआ कि विवेक कवि का गुण न होकर दोष होता है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—'चालाक और दुनियादार आदमी कभी सच्चा कवि नहीं बन सकता। चालाक आदमी आलोचक, कहानीकार, निबंधकार, नाटककार कुछ भी हो सकता है मगर कवि नहीं हो सकता। कवि के लिये सीधा-सादा, सरलवृत्ति, भोला-भाला होना बहुत जरूरी है।" कवि का यह कथन एक तरह से उसके अपने व्यक्तित्व की ही झलक प्रस्तुत करता है। इसी कारण, बार-बार यह देखकर भी, कि जीवन में पीड़ा एक प्रमुख स्थान रखती है, वह उसकी यातना को भी सरलता, भावुकता के आंचल से ढक लेता है।

"जो जीवन मृत बनकर इष्ट देव है पाता
इक इंगित पर हो सौ बार निछावर जाता

भावोदधि में डूब-डूब जो है तिर आता
हुआ जिसे वर जीवन शाप
मुझे पूज्य है अपना आप।"

'अनजान साधना' में कहीं-कहीं कवि को अपने कवि कर्म के प्रति मिली उपेक्षा भी पीड़ित करती दिखाई पड़ती है। वह उस दुनिया की कृतघ्नता के लिये दुःखी है जिसके लिए उसने अपने आप को समर्पित कर रखा है:

"मैं भाव सुमन की कण्ठमाल पहनाऊं
जगतीतल को जग के रहस्य समझाऊं
निज हृतन्त्री के तार खींच कर लाऊं
उर से जो उठते राग रागिनी गाऊं
फिर जगत मुझे ठुकराए क्यों ?"

इस प्रकार आशा-निराशा के झकोरों के बीच डूबते-उतराते पिपासु के कवि ने 'अनजान साधना' के गीतों में मुख्य रूप से अपनी आशा और निराशा की विभिन्न मनःस्थितियों को गीतों में अभिव्यंजित किया है। यह बात भी देखने को मिली है कि कवि को निराशा की घनी पीड़ा के क्षणों में उसका आस्तिक, प्रभुनिष्ठा से आप्लावित मन आशा का आंचल पकड़ कर गा उठता है:

"कभी तो आएंगे मन-भाए
अद्भुत अलख अलेख अनूपम छवि दिखलाए"

अथवा:

"सुमन सौरभ सरसाते रहो
इस मेरे जग हीन-दीन को हर्षित हो हर्षाते रहो।"

परन्तु दूसरे ही क्षण उसे रोम-रोम कचोटते परिवेश की पीड़ा, उसकी भावुकता से आच्छादित यातना मुखर हो उठती है। तब उस के होंठों से व्यथा-मथित वाणी फूट पड़ती है:

"कितनी काटीं जाग-जाग कर मैंने रातें
हुईं दूज का चांद मुझे है सुखजीवन की बातें
अब दुःखान्त भी तो होने दो
सोने दो अब तो सोने दो।"

प्रस्तुत पांडुलिपि में प्रायः आशा-निराशा की धूप-छांव के बीच विचरते कवि के सहज काव्योद्गार सुनाई पड़ते हैं। परन्तु लगता है कि प्रौढ़ावस्था को पार करते-करते, पचास-पचपन वर्ष की उम्र में भी उसका बीस बरस पहले वाला मन-मौजी रसिया मन बीच-बीच में फिर से गुनगुना उठता है; जैसा कि हम पहले भी कह आये हैं, श्रृंगार पिपासु का प्रिय विषय रहा है। पिपासु की श्रृंगारिक रचनाओं में छायावादी श्रृंगारिकता तथा उर्दू की इश्किया शायरी का अद्भुत

सम्मिश्रण देखने को मिलता है। परिवेश प्राप्त पीड़ा से तिल-तिल पिघलते-घुलते जीवन के अवसादमथित क्षणों में भी प्यार के गीत अलाप लेना शायद अस्वाभाविक लगे। परन्तु पिपासु जैसे भावुक कवि-व्यक्तित्व के लिए यह कोई अनोखी वात नहीं है। उसके पास नव्य-भव्य कल्पनाओं का ऐसा अजस्र स्रोत रहता है कि जिसके बीच, वह जब चाहे, छलांग लगाकर अपनी भौतिक यातनाओं को भुलाकर, चाहे क्षण भर ही को सही, आनन्द और संतोष का घूंट पी लेता है। 'अनजान साधना' के कई गीत कवि की इस आत्मविस्मरणोन्मुख मनोवृत्ति के उदाहरण के रूप में उद्धृत किये जा सकते हैं।

कवि की इस सृजन-तृप्ति का एक प्रबल मनोवैज्ञानिक कारण और भी है। यौवन के ढलते मध्याह्न तक कवि नारी के प्रेमपीयूष की बूंद-बूंद के लिये तरसता रहा। कदाचित इसी कारण ही उसने अपना उपनाम भी पिपासु रख लिया। पैंतालीस वर्ष की अवस्था तक उसका विवाह न हो सका और इसके फलस्वरूप वह कामयातना के बीच सुलगता रहा। इसी कारण जमाने के दूसरे ग़मों के बीच भी वह अपनी बहुत दिनों तक भोगी हुई प्रणय-तृषा को अभिव्यक्त कर देता है। कवि पर छायावाद का प्रभाव वहुत गहरा रह चुका है इस लिये 'अनजान साधना' में भी वह कभी-कभी इसी पद्धति में अपनी प्रेम-पिपासा को अभिव्यंजित करता है। परन्तु इन रचनाओं को विशुद्ध छायावादी पद्धति की कोटि में नहीं रखा जा सकता। कभी-कभी वह बचपन की छायावादी काव्य-परिपाटी के अनुसरण भी गा उठता है। मगर वहां भी उर्दू शैली-शिल्प का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

"बोले मद्यप हो सुराबोर
मद पी पी कर
मर जी जी कर
बेसुध हो हो कर उठे शोर
और और
और और"

इसी गीत की नीचे उद्धृत पंक्तियों में बच्चन की इन पंक्तियों की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है: 'वैर कराते मंदिर मस्जिद मेल कराती मधुशाला':

"मंदिर मस्जिद
पंडित जाहिद
की रहे न जग में रार घोर
और और
और और।"

जहां इन पंक्तियों में छायावादी अभिव्यंजना मुखर हुई है वहां कवि की काम-तृषा इन पंक्तियों में बहुत सपाट होकर सामने आई है:

"षट् रस में रस एक न ऐसा
सब रस ही मुझ हित सिकतामय
पर अधरों का रस प्रिय मुझको
मोहक मधुमय मादकतामय।"

भावुकता से आवेष्टित ऊपर उद्धृत गीतों में अभिव्यंजित कवि की मनःस्थितियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे गीत भी 'अनजान साधना' में मिलते हैं जिनमें उसने प्रेम के बदलते व्यावहारिक पक्ष पर भी विचार प्रकट किये हैं :

"प्रेम पंथ में पुष्प नहीं अब चांदी बरसा करती।"

कदाचित प्रेम के बदलते मानों, युगीन प्रभावों से उसमें आई प्रवंचनाओं, उभरती कृत्रिमता तथा स्वार्थ की भावना को देखकर कवि प्रेम को पीड़ारूप ही समझने लगा है :

"चिरजीवन की पहली भूल
जिसे कहा करते हैं प्रेम
जिस में पीड़ा ही का नेम
सदा रहा करता आमूल
चिरजीवन की पहली भूल।"

'सीमा का पंछी' और 'दो चांद' की भांति अपनी 'अनजान साधना' में संकलित रचनाओं में शृंगारिक अभिव्यक्तियां कहीं-कहीं बहुत ही सपाट बन पड़ी हैं। पच्चीस वर्ष पहले वाला पिपासु अब भी प्यासा ही है। "सच कहता हूँ तेरे सपनों में मैं भी आता हूंगा रानी।" कभी-कभी उसकी अतृप्त वासनाएं विशुद्ध छायावादी पद्धति में प्रस्फुटित होती हैं जिन्हें आध्यात्मिकता के झीने आवरण में ढक कर प्रस्तुत किया गया है :

"जिन में तुम चुप-चुप आते
उर में प्रकाश भर जाते
पदचाप बिना चिर सुन्दर
क्षण में फिर तुम भग जाते
आएं फिर मन भर जाएं
ये सूने पल अति सुन्दर।"

परन्तु इसके साथ ही कहीं-कहीं प्रेम की रूढ़ परिभाषा प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति भी 'अनजान साधना' की कविताओं में व्यक्त हुई है। फिल्मी ढंग की नाटकीयता लिए हुए कई गीत बाज़ारी प्रेम की ध्वनि लिए हुए हैं :

"मत गा पी के गीत पपीहे मत गा पी के गीत
पी के गीत वही गा पाए
जो अपने मन को खो जाए

खो न सका जो अपनापन तो वह क्या जाने प्रीत
मत गा पी के गीत ।

इसी प्रकार दिलफैंक बाजारू इश्क ही अभिव्यक्ति कई अन्य गीतों में भी हुई है जिन्हें प्रस्तुत संग्रह की स्तरीय रचनाओं की कोटि से बहिष्कृत करना होगा। क्योंकि इनी-गिनी रचनाएं पूरी पांडुलिपि के स्वरूप को विकृत कर रही हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

तुम चली गईं प्रिय किन्तु रहा मैं पागल सा पछताता सा
कुछ दिन पहले तुम मेरी थीं
यह मेरी दुनिया तेरी थी
अब छोड़-तोड़ कर चली गई प्रिय-प्रिया प्रेम का नाता सा।"

ऐसे गीत भाव की दृष्टि से तो अधकचरे और सामान्य कोटि के हैं ही, शिल्प की दृष्टि से भी शिथिल हैं।

पहले भी कहा जा चुका है कि 'सीमा का पंछी' और 'दो चांद' की भांति 'अनजान साधना' में भी कवि ने व्यावसायिक दृष्टि से तथा सामयिक समस्याओं के लिए आयोजित विशेष कवि सम्मेलनों के लिए फरमायश पर लिखी गई रचनाओं को भी शामिल कर लिया है। उदाहरण के लिए 'सूखा', बंधुआ मजदूरी भारत-पाक युद्ध आदि सामयिक प्रसंगों पर लिखे हुए कई गीत और कविताएं उसने प्रस्तुत संकलन में जोड़ दी हैं। इस में संदेह नहीं कि पिपासु एक सिद्धहस्त कवि होने के कारण किसी भी समस्या या प्रसंग पर लिखने की क्षमता रखते थे। हर सक्षम कवि ऐसा करता भी है। परन्तु अपने एक प्रतिनिधि संकलन में ऐसी रचनाओं को शामिल करना समीचीन नहीं लगता। अपनी रचना किस कवि को अच्छी नहीं लगती मगर एक प्रतिनिधि संकलन के लिए चयन करते समय स्तरीयता पर भी विचार कर लेना चाहिये। सामयिक प्रसंगों पर लिखा साहित्य कभी शाश्वत नहीं होता, भले ही अपने समय में उसकी प्रासंगिकता कितनी ही क्यों न रही हो। दिवाली के प्रसंग पर संभवतः रेडियो के लिये लिखी यह रचना कितनी फीकी-सी लगती है :

"मन में स्नेह के दीप जलाओ भाई
ले कर स्वतन्त्रता आज दिवाली आई।"

भारत-पाक युद्धों के प्रसंग पर पिपासु ने बहुत से गीत लिखे हैं। इन में से कई स्तरीय भी हैं। परन्तु उनमें चिर-प्रासंगिकता न रहने के कारण वे प्रसंग का उत्साह समाप्त होते-होते फीके लगने लगते हैं। इन में अपेक्षित वीररस का परिपाक कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी :

"टक्कर जो पहाड़ से लेते
चूर-चूर वे हो होकर के अपना जीवन भी खो देते।

अपने घर में राज करो तुम
अपनी अपनी करो भरो तुम
कौन कह रहा यहां मरो तुम
किस कारण रण ठान रहे हो कौन बहक में कहो बहे थे।
टक्कर जो पहाड़ से लेते।"

ऐसी लगभग सभी रचनाओं में बहुत कम ऐसी पंक्तियां होंगी जो पाठक के मन को छू सकें। कहीं-कहीं तो तुक अथवा पंक्तिपूर्ति के लिए भरती के शब्द ठूंस दिये गये हैं:

"किन भूलों में भूले हो तुम
किन खुशियों में फूले हो तुम
मेख तुम्हारे सिर पर हम ही विजय चिह्न की गाड़ेंगे
हम ही तुम्हें पछाड़ेंगे।"

छठे-सातवें दशक में देश के कई क्षेत्रों को भंयकर सूखे अथवा अनावृष्टि का सामना करना पड़ा। इस सामयिक प्रसंग पर लिखी गई दो-तीन रचनाएं 'अनजान साधना' में शामिल की गई हैं। परन्तु इनमें भी पिपासु के कवि का वास्तविक स्वरूप दिखाई नहीं पड़ता। ऐसी सभी रचनाएं उनकी ऐसी अन्य कविताओं की भांति यत्नसाध्य तथा कृत्रिम दिखाई पड़ती हैं। प्रस्तुत उदाहरण से इस तथ्य की पुष्टि हो जाएगी:

"चकित हो सब लोग यही कहें
कहर क्या जग में अब हो रहा?
उमड़ता पर क्यों बरसे नहीं
सतत बीत रहा कृषिकाल है।"

निर्धन तथा भूमिहीन किसानों की 'बंधुआ मजदूरी' की समस्या अभी तक इस देश के कई भागों में शोषण की एक घृणित तस्वीर प्रस्तुत करती है। इसको लेकर भी पिपासु ने अपने दो-तीन गीत प्रस्तुत पांडुलिपियों में जोड़े हैं। परन्तु समस्या-समाधान अथवा समस्या की तीव्रता प्रदर्शित करने के लिये लिखी गई अन्य रचनाओं की भांति ये रचनाएं भी कवि के हृत्तल से निकले काव्योद्गारों की तुलना में प्रभावहीन लगती हैं। इनकी कोरी विवरणात्मकता पाठक के मन को कहीं भी स्पर्श नहीं करती है। एक उदाहरण है:

"हाथ जोड़ता सुनो महाजन
कौन हमारा कृपासिन्धुबन
कर सहाय सकता दे दो तो पुत्र, हमारा वही सहारा
प्रिय लौटा दो पुत्र हमारा।"

पिपासु अपने प्रवास के दिनों में गांव-गांव घूम चुके हैं। जम्मू जिला के गांव

कंडी (जलहीन क्षेत्र) कहलाते हैं। यहां लोगों को कई-कई कोस चल कर पीने का पानी लाना पड़ता है। गरमियों की तेज़ धूप में गांव की स्त्रियां मीलों चलकर किस तरह पीने का पानी प्राप्त करने के लिये व्यथा झेलती हैं, इस विषय को लेकर लिखा गया कवि का एक गीत भी प्रस्तुत संकलन में जोड़ा गया है। इसकी कुछ पंक्तियां देखिये :

"बहुत देर से बारी आई
गगरी तब उसने लटकाई
भरी अधभरी जैसे लाई
रखी सिर पर, गुजरी बनकर, चलती जेसे घर की रानी।"

आज विश्व में बड़ी-बड़ी शक्तियां शस्त्रास्त्रों के अभूतपूर्व भण्डार जमा कर रही हैं। परमाणु शस्त्रों की होड़ सी लगी हुई। अधिक से अधिक विनाश की क्षमता वाले भयानक शस्त्रों के निर्माता एक ओर दोनों हाथों में विश्व विनाश के उपकरण लिये हुए हैं पर मुख से शांति का आह्वान करते दिखाई देते हैं। कवि विश्व के सिर पर मंडराते महाविनाश को देख कर पुकार उठता है। शान्ति शब्द का अपमान करने वाली इन विनाशक शक्तियों का आह्वान करके कवि कहता है :

"मरघट संसार बनाकर
शव रज पर राज करेगा
स्वजनों के रुधिर से अपनी
हृतभूमि हरित करेगा ?
रच हिंस्र कलाएं स्वयं विश्व के करना प्राण हरण
वन जाना प्राणों का प्यासा क्या है यह मांगल्यकरण ?"

पाश्चात्य सभ्यता के कई दुष्प्रभावों में स्त्रियों द्वारा किया जा रहा पश्चिमी जीवन पद्धति का अन्धानुसरण भी कवि के लिये आज का एक दुखद विषय है। प्राचीन सती-साध्वियों के भव्य आदर्शों को विस्मृत करके आज की नारी अधः-पतन के जिस गर्त्त में डूवी जा रही है, उस ओर संकेत करते हुए कवि ने बहुत ही मार्मिक पंक्तियां लिखी हैं :

"सिया सी सयानी गार्गी सी ब्रह्मज्ञानी
रानी झांसी जैसी की तो पूजा हम करेंगे
कृष्ण की प्यारी वह तो मीरा मतवारी
वार-वार यहां होवें यही चाह चित्त धरेंगे
लिपस्टिक की लवय्या वाल डांस की नचय्या
कुल तरणी डुवय्या को विलासी कहा करेंगे
शकर सचेत कर कहे वस एक ऐसी
नारी के गुलाम हो के नर कैसे तरेंगे।"

कवियों के लिये पावस एक बहुत ही मनभाता मौसम रहा है। भारत में वर्षा ऋतु कृषकों के लिये अमृत ही नहीं कवियों के लिये भी श्रृंगाररस का उद्दीपन रहा है। वर्षा ऋतु की उमड़ती घटाएं तो एक सामान्य जन को भी कवि वना देती हैं फिर एक कवि हृदय का तो कहना ही क्या :

"मुदित हाव हों उदित भाव नव
नव भावों का मधुर स्राव नव
पुलकित हो तन मन रे
अब तो बरस घन घन रे !

एक कवि का उदात्त चिंतन; मानव मात्र के मांगल्य हेतु उसका समर्पण देख कर भी यह दुनिया जब उसकी उपेक्षा करती है तो उसकी इस कृतघ्नता से उसकी आंखों में आंसू उमड़ आते हैं। कवि को कुछ देना तो दूर उसके मुख से निःसृत अपने ही हित की वाणी को उसके साथ मिलाकर दोहराने को भी वह तैयार नहीं :

"जग के भविष्य की मैं प्रतिभा बन जाऊं
नाटक जो होना हो वह कर दिखलाऊं
हो जो अतीत की बात उसे बतलाऊं
रे मूर्तिमान कर वर्तमान दिखलाऊं
जग स्वर से स्वर न मिलाए क्यों?
फिर जगत मुझे ठुकराए क्यों?"

परन्तु इस जगती की कृतघ्नता से पीड़ित हो कर भी एक सत्कवि अपने कवि-कर्म से विमुख नहीं होता। दूसरों के दुःख से जलना, तड़पना और गाना उसकी मजबूरी है। वह जग-व्यथा से चाहने पर भी आंखें नहीं मूंद सकता। इस दुनिया को तृष्णा, ईर्ष्या और स्वार्थ की भट्ठी में जलते देख कर कवि के भव्य-भाव-सुमन भी जब राख की ढेरी बन जाते हैं तो वह चीत्कार कर उठता है :

"तृष्णा की ज्वाला बढ़ी सत्वर
तृष्णा-पूजा में जग तत्पर
जल गया आज मैं निरख-निरख
जाज्वल्यमान मेरा अन्तर
खा अंगार पला करता हूं
अपने आप जला करता हूं।"

परिवेश में व्याप्त विडम्बनाओं, विसंगतियों से आक्रान्त कवि को चारों ओर अन्धकार दिखाई पड़ता है। घृणा, ईर्ष्या और स्वार्थों की होड़ में मानव मानव को अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये काटने को दौड़ रहा है। शोषण, अपहरण, हिंसा, अग्निकाण्ड के भीषण दृश्य देख कर कवि-पिपासु का भावुक मन कभी

निराश-हताश हो कर औंधा होकर कराहने लगता है : "अब मुझको सोने दो।" तो कभी दुनिया के छलनामय जीवन का चित्र अंकित करता है, तो कभी भावलोक के सपनों के संसार में कूद पड़ता है :

"संग तुम्हारे जीवन प्याला
और साथ में कविता हाला
और लिये जाओ इक बाला
भाव विनिर्मित सत्य बना लो एक नया संसार निराला।"

परन्तु भावुकता का आवेश उतरते ही उसका विवेक जागृत हो जाता है। वह आत्मविस्मरण के मार्ग का परित्याग करके युग के परित्राण के लिये नये 'जीवन-सूर्य' का आह्वान कर उठता है।

"निकलो निकलो तम से बाहिर
युग शयित पड़ा जग का जीवन
निज रश्मिपुंज से कर सचेत
सार्थक कर दो जग का जीवन
मानव जीवन की मंजिल क्या
यह दुनिया को बतला दो तुम
सर्वोपरि मानव-संस्कृति का
इक पाठ नवल बतला दो तुम
नव जीवन के गान अमर गाएं सस्वर सब ही जग-जन मिल।"

'अनजान साधना' पर दिये इस विवेचन में से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि यद्यपि 'दो चांद' और 'सीमा का पंछी' से आगे अपनी काव्ययात्रा में कवि के चिन्तन और अभिव्यक्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया है परन्तु इस संग्रह में निश्चय ही विषय की बहुत विविधता है। यद्यपि देशभक्ति, वीरता, सूखा, बंधुआ मजदूरी, कंडी का जीवन आदि सामयिक तथा कम महत्व के प्रसंगों पर बहुत-सी रचनाएं शामिल की गई हैं परन्तु यदि व्यापक दृष्टि से देखें तो 'अनजान साधना' में भी 'दो चांद' तथा 'सीमा का पंछी' वाले कवि की छवि ज्यों की त्यों मिल जाती है। वह अब भी निज दुःख को भव-पीड़ा में ढाल कर विश्व-मांगल्य के स्वर अलापता है। कभी निराशा में, कभी आशावान होकर तथा कभी कल्पना के छायालोक में अपने भौतिक अस्तित्व को विस्मृत करके।

भाषा, शिल्प तथा शैली

(सीमा का पंछी तथा अंजान साधना)

'सीमा का पंछी' के रचना काल में और 'दो चांद' के रचना-काल में अधिक अन्तराल न होने के कारण 'सीमा का पंछी' में भाषा-शैली तथा शैलिपक दृष्टि से कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं पड़ता। हां, समय के बीतते-बीतते अभ्यास में सातत्य के कारण 'सीमा का पंछी' के गीतों में 'दो चांद' की अपेक्षा कहीं अधिक प्रौढ़ता दृष्टिगत हुई है। अपने रचना-स्वभाव के अनुरूप प्रस्तुत संकलन की प्रमुख सृजन-विधा भी 'गीति' है। परन्तु 'दो चांद' की तरह यति और गति-शैथिल्य, तथा तुक-मोह में भाव-स्खलन के अंश अपेक्षतः बहुत कम देखने को मिले हैं। तुक पूर्ति तथा पंक्ति पूर्ति के प्रयास में अब कवि निरर्थक भरती के शब्द ठूंसने से बचता दिखाई देता है। अपने 'सीमा का पंछी' के गीतों में भी कवि ने 'दो चांद' के गीतों की भांति मुख्य रूप से छायावादी कवियों द्वारा प्रयुक्त आधुनिक प्रचलित छन्द पद्धति का आश्रय लिया है। एक-दो जगह उसने शास्त्रीय छन्दों का भी प्रयोग किया है:

> "है वह कौन सी मुस्कान
> देख जिसको मुस्कुराते हैं सुमन अनजान"

प्रस्तुत पंक्तियां सानुप्रास शब्द योजना तथा एक छोटी टेक-पंक्ति से गीत का आरम्भ करने के कारण द्विवेदीयुगीन तथा छायावादी छन्द-शिल्प का कर्ण-सुखद आस्वादन करवाती हैं।

छायावादी गीतिशैली में जिस नई भाषा का प्रयोग मिलता है, पिपासु ने 'सीमा का पंछी' के गीतों में भी प्रायः उसी का अनुसरण किया है। छायावादी कविता गीतात्मक होने के कारण अनुप्रास बहुल होती है। 'सीमा का पंछी' की भाषा भी छायावादी भाषा-लालित्य के साथ-साथ कर्णसुखद अनुप्रास ध्वनि लिये रहती है। नीचे उद्धृत कुछ गीतों की पंक्तियां इस बात को प्रमाणित करती हैं:

> "पछताऊं जीवन पुस्तक में क्यों प्रेमाक्षर छाप दिया था।"
> "मोहन मोहक मंत्र फूंक दो मुरली मधुर बजाकर।"
> "शंकर कर लो काम राम का तब पाओ आराम।"

"गुन गुन करते भ्रमर सांवले तुमने उन पर आन बिठाए।"
"मलिन वदन कृशतन मन पापी नयनन नीर 'भरूं।"

छायावादी कालीन गीति पद्धति के अतिरिक्त 'सीमा का पंछी' में पिपासु ने उर्दू शैली में हिन्दी गजल लिखने का भी प्रयास किया है। हिन्दी में गजल लिखने के और भी बहुत से कवियों ने प्रयास किए हैं। परन्तु ग़ज़ल को हिन्दी में उर्दू ग़ज़ल के समकक्ष खड़ा करने में किसी भी कवि को सफलता नही मिली है। इसके प्रमुख कारणों में उर्दू भाषा की लचक तथा ध्वनि वैशिष्ट्य सबसे बड़ा कारण है। हिन्दी में उर्दू की भांति कविता के उच्चारण में लय के अनुरूप मन-माना परिवर्तन करने की सुविधा न होने से हिन्दी ग़ज़ल उर्दू ग़ज़ल की बराबरी नहीं कर सकती। हिन्दी के जो गीतकार 'ग़ज़ल' में लोकप्रिय समझे जाते हैं उन सब के ग़ज़ल-सौन्दर्य का कारण उर्दू-फारसी के शब्दों के प्रयोग का आधिक्य है। केवल हिन्दी की शब्दावली में ग़ज़ल कहीं भी सफल होती दिखाई नहीं दी है। इस दृष्टि से पिपासु भी अपवाद नहीं हैं। परन्तु प्रस्तुत पांडुलिपि में एक गजल अवश्य ही ऐसी है जिसमें उर्दू-फारसी शब्दावली के प्रयोग के बिना भी ग़ज़ल का वास्तविक स्वरूप एवं स्वभाव देखने को मिलता। इस सौन्दर्य का कारण शब्दों अथवा वाक्यांशों की आवृत्ति प्रतीत होता है। उदाहरण देखिए :

तिरकर डूबे डूबे तिरकर जीवन नय्या
नाव न लगती कोई ठिकाने कोई ठिकाने
मन की पीर न कोई जाने कोई जाने
मन की बात न कोई माने कोई माने।

(पांडुलिपि से)

कवि की गजलों में आई इस सहजता का एक कारण यह भी है कि उसने अपनी गज़लों के लिए, अन्य हिन्दी गजल कहने वाले कवियों की भांति उर्दू की 'बहरों' (छन्दों) को नहीं चुना है। उसने प्रायः सभी गजलों में छोटे छन्दों का प्रयोग किया है। यद्यपि कथ्य की दृष्टि से ये गज़लें कोई मार्मिक भाव उद्घाटित नहीं करती है परन्तु शिल्प की दृष्टि से कवि की सधी हुई लेखनी की परिचायक जरूर है :

"राम तेरा नाम ही सुख-धाम है
जो संवारे सकल जग के काम है।
कर्म-फल-इच्छा न रखें हम कभी
कर्म करते जांय जो अभिराम है।
हो पिपासु की न पूरी आस क्यों
राम सा जब आप ही घनश्याम है।" (पांडुलिपि से)

'दो चांद' तथा 'सीमा का पंछी' की भांति प्रस्तुत पांडुलिपि में भी कवि ने अपनी स्वच्छन्द कविताओं की बानगी के रूप में कुछ रचनाएं संकलित की हैं। परन्तु इस दिशा में न तो कथ्य में ही वह कोई वैशिष्ट्य ला पाया है और न शिल्प की दृष्टि से ही अब तक कोई उल्लेखनीय प्रगति कर पाया है। प्रायः सभी स्वच्छन्द रचनाओं को एक अच्छी-खासी छन्दोमय रचना के समान पढ़ा जा सकता है। छन्द वाली पंक्तियों को तोड़-तोड़कर लिखने से तथा हर पंक्ति में तुक का प्रयोग करने से एक सफल स्वच्छन्द रचना नहीं बन पाती। पिपासु मूल रूप से गीतकार ही नहीं, छन्द-प्रिय कवि ही नहीं, नई स्वच्छन्द एवं छन्दमुक्त शैली के मन से विरोधी भी थे। वे नये भाव-शिल्प की कविता का उपहास उड़ाया करते थे। इसलिए उनका मन भीतर से ही नवीन काव्य-पद्धति को स्वीकार नहीं करता था। तो फिर भला उन्होंने ये गिनती की स्वच्छन्द कविताएं भी क्यों लिखीं? इस दिशा में ऐसा लगता है कि वे इस पद्धति में भी अपनी कलम को आजमाना चाहते थे। परन्तु जब किसी काम को नैसर्गिक प्रेरणा से न करके हम उसे कोरी फैशन-परस्ती की दृष्टि से करते हैं तो उसमें कभी भी उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल सकती। ऐसी कोशिश हमेशा बनावटीपन लिए रहती है। वही बात पिपासु की स्वच्छन्द कविताओं में भी दिखाई पड़ती है। एक उदाहरण 'अनजान साधना' की पांडुलिपि से उद्धृत है—

''जब उमड़ पड़ा यह प्रेम सिन्धु
औ बना सिन्धु बन प्रेम बिन्दु
लसता जब तुमसा पूर्णेन्दु
जो कर प्रकाश
मम अखिल लोक के दूर कर रहा तापशोक
बिम्ब अधर खोल
कुछ बोल-बोल
कल कण्ठ शंख से कर गुंजार।'' (पांडुलिपि से)

प्रस्तुत उद्धरण में ढूंढ़ने पर भी न तो कोई कथ्यगत आकर्षण है और न शिल्प-गत सौन्दर्य का ही कोई चिह्न नजर आता है।

चाहे जो भी हो अपनी स्वच्छन्द कविताओं की कथ्यगत एवं शैलिपक शिथिलताओं के कारण पिपासु को एक श्रेष्ठ कवि मानने में हमें कोई बाधा दिखाई नहीं देती। वे तो मूल रूप से एक गीतकार थे और तीन दशक पुरानी पद्धति के एक सफल गीतकार थे। गीति उनके रक्त में घुली-मिली थी। इसलिए जब-जब उन्होंने अपने रचना-स्वभाव का अतिक्रमण, बिना मानसिक प्रेरणा के किया तब-तब उन्हें असफलता का मुंह देखना पड़ा। ऐसी रचनाओं में सहजता और अभिव्यंजना की गति अवरुद्ध हो जाती है।

इस प्रकार भाषा, शिल्प तथा शैली की दृष्टि से देखने पर 'सीमा का पंछी" तथा कवि की अप्रकाशित रचनाओं की पांडुलिपियों, 'अनजान साधना तथा 'जीवन-गान' में 'दो चांद' से कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। भाषा प्रयोग में कवि तत्सम शब्दावली का प्रयोग खुलकर करता है। वह इन आलोच्य कृतियों में हिन्दी से इतर उर्दू आदि भाषाओं के प्रयोग से बराबर बचता दिखाई देता है। छन्द रचना में तो वह सिद्धहस्त है ही। हां 'दो चांद' की तुलना में उसकी छन्द-रचना-क्षमता अधिक सक्षम और परिष्कृत बन पाई है। मूलरूप से गीतकार होने के कारण वह स्वच्छन्द शैली में, चाहने पर भी सफल नहीं हुआ है। कुल मिलाकर ऊपर की पंक्तियों में गिनाए गए तथ्य ही कवि की इन कृतियों के अध्ययन से सामने आए हैं। अन्त में फिर यही कहना पड़ता है कि जन्मजात प्रतिभा रहने तथा छन्द योजना, भाषा संरचना तथा काव्योपयुक्त शब्दचयन में समर्थ कवि होते हुए भी पिपासु उपयुक्त वातावरण तथा अपेक्षित सुविधाएं न रहने पर भी हिन्दी जगत में वह स्थान न पा सका जिसकी उसमें प्रवल संभावनाएं विद्यमान थीं।

□

परिशिष्ट

पिपासु की दो पाण्डुलिपियों

'जीवन गान' तथा 'अनजान साधना'

में

संकलित गीतों तथा कविताओं

में से चुनी हुई रचनाएं

पिपासु की 'जीवन गान' नामक पांडुलिपि में संकलित जम्मू-कश्मीर विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो० जगन्नाथ तिवारी द्वारा लिखित भूमिका की प्रतिलिपि।

मैंने श्री शंकर शर्मा पिपासु के जीवन-गान नामक कविता-सग्रह का आद्यन्त अवलोकन किया। इस संग्रह की कई कविताएं सुरुचिपूर्ण प्रतीत हुईं और मुझे पसंद आईं। इन कविताओं में पिपासु जी ने जीवन की विविध दशाओं पर अपने विचार प्रकट किए हैं। उनकी अनुभूति में तन्मयता तथा मौलिकता है और उनकी भाषा सरल, सुबोध तथा प्रवाहयुक्त है। एक अहिन्दी भाषी प्रान्त में कवि की इस सुन्दर भावपूर्ण रचना को देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। आशा है पाठक पिपासु जी के इस संग्रह का स्वागत करेंगे और इससे लाभ उठाएंगे।

२४ जुलाई १९६८

जगन्नाथ तिवारी
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
कश्मीर विश्वविद्यालय, जम्मू

अनजान साधना

जान ले भगवान मेरी साधना अनजान
अर्घ्य चन्दन कुछ नहीं, बस अटपटे ये गान।

सज सजीला साज मैं रे !
आऊं कैसे पास तेरे ?

आ गिरा हूं गर्त में मैं दुःख पीड़ित प्राण
जान ले भगवान मेरी साधना अनजान।

तुम कहोगे दुःख कहां, रे ?
मैं कहूंगा सुख कहां, रे ?

जब नहीं हैं पास मेरे आज अत्रभवान
जान ले भगवान मेरी साधना अनजान !

किस तरह मेरे चितेरे
दुःख-सुख का चित्र हेरे

जो कभी बरसों के बिछुड़े आ मिलो सुखधाम
जान ले भगवान मेरी साधना अनजान।

मैं रहूं दुःख में पगा रे
नित्य नियति का ठगा रे

कौन तुझको फिर कहेगा दुखित हित गतिमान
जान ले भगवान मेरी साधना अनजान।

इसलिए प्रभु आज सुन लो
एक सीधी बात गुन लो

तव कृपा बिन हो न जाए प्राण का अवसान
जान ले भगवान मेरी साधना अनजान।

आत्म-पूजा

मुझे पूज्य है अपना आप

जिस अपनेपन में है अपना साज सजाया
जिस अपनेपन में अपनेपन को है पाया
जिसने अपने प्राणों का संगीत बनाया
उसी अहं का करता जाप।
मुझे पूज्य है अपना आप

जो मीरा बन नाच उठा, संसार नचाया
जिसने प्रेमी बन अपने साजन को पाया
साजन में फिर जिसने अपना आप समाया।
नहीं जलाए बिरहा ताप।
मुझे पूज्य है अपना आप

जो जीवन मृत बनकर इष्टदेव है पाता
इक इंगित पर हो सौ बार निछावर पाता
भावोदधि में डूब डूब जो है तिर जाता
हुआ जिसे वर, जीवन शाप।
मुझे पूज्य है अपना आप।

बन्धन

हो गया अमरत्व मेरा आज बन्धन

विश्व सुख-दुःख, सुमन कण्टक भूलकर सब
की युगों से साधना नव गान गाकर
गान गाकर नव-कला निर्माण कर फिर
पा सकूं अमरत्व जग में भाव पाकर
इक बनाया बाग़, जिस पर मुग्ध नंदन
हो गया अमरत्व मेरा आज बंधन।

पुष्प पादप, स्रोत सरिता ताल नूतन
गगनचुम्बी अचल जिसका भाल नूतन
कीट मैना कोकिला पिक भ्रमर गुंजन
रच गए आनंद जिसका और ही मन—
मुग्धकारी हो बहे फिर वात चंदन
हो गया अमरत्व मेरा आज बंधन।

नव उषा हो, नई संध्या, नवल जलधर
नव निशा हो दिवस नव हो सतत प्रियवर
सतत निशिकर पूर्ण हो नव अर्क शीतल
ग्रीष्म में भी तेज जिसका हो प्रखर-तर
हो जहां अपनत्व का ही गान वन्दन
हो गया अमरत्व मेरा आज बंधन।

ओ, बटोही

झूम झूम रे सजग बटोही जीवन पथ के
रहे अभीष्ट न तुझे उतरना काया रथ से

मुरझानें से पहले जीवन-पुष्प चढ़ाना
अर्पित होना स्वयं आप पर मत घबराना !

घबराना किसलिए वहां भव भाव भरा है
वहां प्रेम आलोक किसे कब कहां खला है !

जन्म जन्म से रहे तरसते जिसके पद को
पाया फिर फिर भूल भूल उस विश्व भयद को !

उठे खुशी से नाच नाच अब हृदय तुम्हारा
भरे खुशी के राग-गीत से यह जग सारा !

झूम झूम रे सजग बटोही जीवन पथ के
रहे अभीष्ट न तुझे उतरना जीवन रथ से।

सब ने ठुकराया

जग ने मुझको कब अपनाया ?

उपवन में हंस फूलों के मिस मैंने अपना हास बिखेरा
भंवरा बनकर नाद भेद का किया भगाया द्वैत अंधेरा
सौरभ बनकर समता का रे मैंने जग को पाठ पढ़ाया
पर इस मेरे भोले जग ने मुझसे इसका भेद न पाया।
जग ने मुझको कब अपनाया ?

रोया फिर मैं ओस-कणों मिस मौन मौन हीरे उपवन में
बन कर वारिद बरस पड़ा फिर मैं इस जगती के प्रांगण में
यद्यपि देख रहा जग अब भी मेरा रोदन तारक गण में
क्या बतलाऊं क्योंकर मेरा रोना जग को कभी न भाया ?
जग ने मुझको कब अपनाया ?

उस असीम से कर आलिंगन अब तो सीमाहीन बनूंगा
लय कर जीवन उसकी लय में तन से उसकी बीन बनूंगा
फूट पडूगा निर्झर सा मैं उसका मोहक गायन बनकर
सब कुछ भर लूं अपनेपन में हो जाए यह ऐसी काया।
जग ने मुझको कब अपनाया ?

जला करता हूं

अपने आप जला करता हूं
अपना आप छला करता हूं।

भव दुःख दूर नहीं कर सकता
भव सुख अधिक नहीं कर सकता
विष को सुधा नहीं कर सकता
केवल लोचन ही भर सकता
फिर भी हाय ! खला करता हूं।

तृष्णा की ज्वाल बढ़ी सत्वर
इसकी पूजा में जग तत्पर
जल गया आज मैं निरख निरख
जाज्वल्यमान मेरा अन्तर !
खा अंगार पला करता हूं।

मैंने जग को उल्लास दिया
जग ने मेरा उपहास किया
कोरा भ्रम था विश्वास किया
फिर कब सुख का निःश्वास लिया
निज अरमान दला करता हूं।

अपने आप जला करता हूं
अपना आप छला करता हूं।

क्यों एकाकी ?

तुम क्यों एकाकी जीते हो ?

संग तुम्हारे जीवन प्याला
और साथ ही कविता हाला
संग लिए जाओ इक बाला
भाव विनिर्मित सत्य बना लो एक नया संसार निराला

संग लिए जाओ कुछ क्रीड़ा
और लिए जाओ कुछ व्रीड़ा
थोड़े आंसू थोड़ी पीड़ा
तन्मय होकर नित्य करो तुम जगती को मतवाला !

गात गात से प्राण प्राण से
गीत गीत से तान तान से
नित नव यौवन मधुर गान से
मिले यथा लहरी सागर से जिसका मिलता नहीं किनारा
तुम क्यों एकाकी रहते हो ?

और ! और !

और और !
बोले मद्यप हो सुरा बोर
दे और और !

मद पी पी कर
मर कर जी कर
बेसुध हो हो कर उठे शोर—
दे और और !

अलसाए से
मुंह बाए से
देखते चषक, ज्यों शशि चकोर
दे और और !

सुन रे, साक़ी
मत रख बाकी
ढालो इतनी सब हो विभोर।
दे और और !

मंदिर मसजिद
पंडित, ज़ाहिद—
की रहे न जग में रार घोर।
दे और और !

सब तत्त्व एक
मिल कर अनेक
एकत्रित हों मिल एक छोर।
दे और और !

सुख सुखद नहीं
दुख दुखद नहीं
उस स्थिति में पहुंचे सभी ठौर।
दे और और !
दे और और।

बोले मद्यप हो सुरा बोर
दे और और !
दे और और !

होड़

तेरा नाम अमर हो मुझसे
मैं फिर तुमसे अमर बनूं।

मृग मरीचिका से बच बचकर
चलना सिखला दो मुझको !

अथवा छलनाएं सपना हों
ऐसा भेद बता दो मुझको।

अंचल अब न छूट सके
छलना से तो ऐसा कर दो—

जूझ पड़ूं फिर विजित करूं
इनको मैं ऐसी शक्ति भर दो।

नहीं यदि कर सकते ऐसा
तो अपने से क्यों दूर किया ?

भीषण जग-ज्वाला में फिर
जलने को क्यों मजबूर किया ?

विरह तुम्हारा अमर गान है
मिलन मौन निःस्पंदित सा
स्यात् इसी हित विरह दिया
गाऊं होकर आनंदित सा।

सुख-देश

कितने हंसते रोते आंसू
देखे हैं इन आंखों ने,
ली उड़ान सुख-देश खोज हित
इन आंखों की पांखों ने।

कितनी कलियां जो खिलने से
पूर्व न आंसू बरसातीं
कितने फूल न हंसते ही
जिनकी आशाएं लुट जातीं?'

कौन गन्ध जिस को न महकते
चोर समीर उड़ा जाता
मधु है कहां न जिसको मधुकर
पूजा से पहले पाता?

इसीलिए तो सोचा करता
अमर प्रसून कहां पाऊं
अपने सुख के देव खोजते
ही न खोजते रह जाऊं?'

उधर न मिलते देव इधर
अर्चन को पूत प्रसून यहां
इसीलिए तो होता आंसू द्वारा
दिल का खून यहां!

विष पीता हूं

चाह नहीं थी दुःख की मुझको
पर कब सुख को जान सका था ?
पीड़ा क्रीड़ा विरह-मिलन कब
एकाकी पहचान सका था ?

उत्सुक होंठ हुए फूलों को
चुम्बन को पर कांटे पाए;
मेरे जीवन के प्रभात ने
ही संध्या के दीप सजाए।

विष पीकर बन अमर सकूं
मैं विधि का वह वरदान नहीं हूं
माना मैं शिव शंकर जैसा
कर सकता कल्याण नहीं हूं।
पर साहस तो देखो मेरा
जान बूझकर विष पीता हूं

विष पीता हूं मरने को, पर
तड़प-तड़प फिर भी जीता हूं।

पहली भूल

चिर जीवन की पहली भूल

जिसे कहा करते हैं प्रेम
जिसमें है पीडा का नेम
सदा दहा करता आमूल

चिर जीवन की पहली भूल !
पीड़ा जिसका आर न पार
मानव को लेती है घेर
है दिन दूने देती फेर
हो जातीं जब आंखें चार।

चिर जीवन की पहली भूल।
दिन क्या फिरते मानस मात्र
रो रो हंसता कभी अनजान
हंस हंस रोता कभी निदान
होता जग जन कौतुक पात्र

चिर जीवन की पहली भूल
कवि प्रेमी समझे संसार
पागल ज्ञानी पर है खेद
जग कब समझा उसका भेद;
कवि प्रेमी है विश्वाधार
चिर जीवन की पहली भूल।

पागल मन

पागल हूं, सचमुच पागल हूं
पागलपन में क्या शक बाकी
भूल नहीं पाता हूं पल भर
मदिरा, मदिरालय मधु साकी।

मधुबाला का घर मदिरालय
मदिरा नयन अधर मुस्काते
प्रेम रूप भगवान बसे उस
में उसके साकी बन जाते

करता हूं रस पान हमेशा
पर न कभी कुछ बन पाता हूं
शिव न सका बन कभी
हमेशा शव-सा जड़ जीता जाता हूं

षट्‌रस में रस एक न ऐसा
सब रस ही मुझ हित सिकतामय
अधरों का रस, प्रिय! मुझको प्रिय
मोहक मधुमय मादकतामय।

चेतावनी

सिया-सी सयानी और गार्गी-सी ब्रह्मज्ञानी
झांसी वाली रानी की तो पूजा सभी करेंगे।

कृष्ण की प्यारी वैसी मीरा मतवारी
बार वार यहां होवें यही चाह चित्त धरेंगे।

किन्तु पौडर लवय्या बाल डांस की नचय्या
जगतरणी डुबय्या की तारीफ़ कैसे करेंगे?

शंकर सचेत कर बार बार यही कहें
नारी के गुलाम हो के नर कैसे तरेंगे?

सुख कहां

वेदना को भी कहां सुख?

जलद पट में जब कभी भी
तडित् तड़पाती जलद को
किन्तु खुद भी तड़प जाती
दु:ख को लेती समझ सुख
वेदना को भी कहां सुख?

शून्य उर के घाव तारक
आज तो चमकें निरन्तर
क्या इशारों से नहीं वे
हैं सुनाते आप निज दुख
वेदना को भी कहां सुख?

घन रे

अब तो बरस सरस घन घन रे !

तन मन के सब ताप दूर हों,
नव जीवन हो नव सरूर हों,
हो अग जग धन धन रे !
अब तो बरस सरस घन घन रे !

सूखे ताल सजल हो जाएं
सरिता सागर सब उफनाएं
हरित भरित वन वन रे !
अब बरस सरस घन घन रे !

उज्वल कण के हार बनाओ
चपला चमक दमक चमकाओ
नीर बहे छन छन रे
अब तो बरस सरस घन घन रे !

मुदित भाव हों उदित हाव नव
हावों भावों का मधुर स्राव नव
पुलकित हो तन मन रे
अब तो बरस सरस घन घन रे !

ग़ज़ल

मन की पीर न कोई जाने कोई जाने
मन की बात न कोई माने कोई माने।
दुख के गीत न सुनता कोई, सुनता कोई
सुन कर धूल न कोई छाने कोई छाने।
जग कहता है प्यार न करना, प्यार न करना
इस दुनिया में कोई न माने, कोई न माने !
फिर फिर डूबे जीवन नय्या, जीवन नय्या
किन्तु न लगती कभी ठिकाने कभी ठिकाने।
किसको खींच कहां से लाऊं, कैसे लाऊं
आए न कोई धीर बंधाने धीर बंधाने।
मन की पीर न कोई जाने कोई जाने
मन की बात न कोई माने कोई माने।

ग़ज़ल

राम तेरा नाम ही सुखधाम है
जो संवारे सकल जग के काम है।
आप अपना कर सकें उद्धार हम
और समझें सकल जग में राम है।
कर्म-फल-इच्छा न रखें हम कभी
कर्म करते जाएं जो अभिराम है।
एक सुख-दुख हानि लाभ समान हो
ज्ञान दो जिसका कि यह परिणाम है।
आत्म चिंतन-रूप तेरा रूप हो
भूल जाएं क्या निराशा नाम है।
दीन दुखियों को मिले मुस्कान फिर
प्रार्थना शंकर की आठों याम है।

असमंजस

जग के भिन्न देखे तार
एक दीपक राग गाता दूसरा मल्हार।

एक को सोना नहीं है भाग्य में दिन रात
एक सुख की नींद सोकर भोगता संसार।

एक मांगे भीख लेकिन जग उसे ठुकराए
एक सिंहासन पे बैठा बन रहा करतार।

एक रोता एक पत्नी को यहां निशिवार
एक पर होती निछावर नित्य सौ सौ नार।

एक का खलिहान उजड़ा हाय ! विधि के खेल
एक सोने का पुजारी बन तजे सुविचार।

जग के भिन्न देखे तार !
एक दीपक राग गाता दूसरा मल्हार !

गीत

मत गा पी के गीत पपीहे
मत गा पी के गीत !

पी के गीत वही गा पाए
जो अपनेपन में खो जाए
खो न सका जो अपनापन वह नर क्या जाने प्रीत
मत गा पी के गीत।

तुम से अच्छे हैं परवाने
जो दीपक पर मरना जानें
मर न सके जो प्रेम-पंथ में वह क्या जाने प्रीत
मत गा पी के गीत।

मत गा पी के गीत पपीहे मत गा पी के गीत

तुम बिन

तुम चली गईं प्रिय किन्तु रहा मैं पागल सा पछताता सा।

कुछ दिन पहले तुम मेरी थी
यह मेरी दुनिया तेरी थी

अब छोड़ तोड़कर चली गई प्रिय प्रिया प्रेम का नाता-सा।

किस लिये यहां थी आई तुम
किस लिये जरा मुस्काई तुम

मैं जान न पाया छोड़ा क्योंकर तुमने यह अपनाता-सा।

अब रोना ही रोना केवल
कर्मों का फल धोना केवल

रह गया शेष इस जीवन को कुछ जीवन हित उकसाता-सा
तुम चली गईं प्रिय किन्तु रहा मैं पागल सा पछताता सा।

गीत

क्या पाया है प्यार किसी का ?

क्षुब्ध कण्ठ से बोल रहे हो
बातें इतनी तोल रहे हो ?
कहीं भेद खुल जाए न सहसा
मन में जिसे टटोल रहे हो ?
पाना चाहो प्यार किसी का ?

मुंह से अपने कुछ न कहते
छिप छिपकर फिर चुप चुप रहते
पूछो तो कुछ मुस्का देते
प्रेम नदी में बहते बहते
खोज रहे संसार किसी का ?

नयन बिछाए रहते हरदम
दुःख पर दुख नित सहते हरदम
देखी दशा तुम्हारी साजन
समझ पहेली सके न यह हम
क्या करते सत्कार किसी का
क्या पाया है प्यार किसी का ?

झंकार

बज उठे हृत्तन्त्री के तार
विस्मित हो जाओगे सुनकर यह नूतन झंकार।

तभी होगा तव पुलकित गात
करोगे तुम भी अश्रुनिपात

दृग्जल मुक्ताहारों का जब देखोगे शृंगार।

होगी विकल वेदना सुनकर
मेरा गीला गान मनोहर

कोकिल कूक उठेंगी वन में खग शुक हर तरु डार।

नहीं रे इतना ही क्या आज
हृदय का झंकृत होगा साज

गंधर्वों की वीणा के चुप हो जाएंगे तार।

हंसोगे सुनकर नव संगीत
हंसी की होगी उल्टी रीत

हंस हंसकर फिर वह निकलेगी अविरल दृग्जल धार।

बटोही से

पल भर यहां बटोही बैठ।

आया है तू कौन देश से
जाना है किस ओर
बतलाता जा मुझको राही
है क्या पथ का छोर।
थककर यहां बटोही ऐंठ।

जानें दे जानें दे सजनी
जाता हूं मैं दूर
जहां जगत के आज हुए
अनुमान दौड़ थक चूर
कहे क्यों मुझें 'बठोही बैठ।

कुहू निशा के तम सा सजनी
तेरा मोह प्रसार
पाजाऊंगा मुक्ति सुधा मैं
तू निज बांह पसार।
जाना दूर, न सकता बैठ।
पल भर यहां बटोही बैठ।

अनाहूत

मैं तो आया हूं अनाहूत

मधुकर तो है मधुरस लोभी
मधु पीकर झट उड़ जाता है
उड़ तज रसाल नव डाल डाल
फिर ताल ताल पर गाता है

गाता मंजरियां भूल भूल
नित नई कली अपनाता है
पर भ्रमर न जानो मुझें प्रिये
मैं तो सजनी द्विज देव पूत।

मत समझ शिलीमुख मुझे प्रिये
मैं चाहूं रस का दान नहीं
अति सुन्दर हो पर करो कभी
तुम यौवन पर अभिमान नहीं

प्राणों से प्राण जुड़ा न सको
पर मेरा भूलो ध्यान नहीं
अमर प्रेम के गान-स्रोत
उर सें निकलेंगे फूट फूट
मैं तो आया हूं अनाहूत।

आह्लाद पर्व

मुझसें उन्मत्त खुशी मेरी

मलयज मारुत से डोल सुमन
नाचा करता मन-भाव-भुवन
उल्लास लास से हो प्रमुदित
जब उठती नाच खुशी मेंरी
मुझसे उन्मत्त खुशी मेरी।

जैसे निर्धन को धन मिलता
या प्रेमी को प्रियजन मिलता
वैसे ही हृदय सुमन खिलता
उठती जब नाच खुशी मेरी
मुझसे उन्मत्त खुशी मेरी।

जैसे कोई विष पी जाता
उसको पीकर भी जी जाता
हो अमर नाच उठता जैसे
करती वह नाच खुशी मेरी
मुझसें उन्मत्त खुशी मेरी।

अरी विभावरी

अरी विभावरी क्यों रोती है ?

नहीं सुधाकर सुधासीकरों से क्या तुझको कभी रिझाता ?
और नहीं क्या व्योम तुझे है तारों के नित हार पिन्हाता ?
कह दे, कह दे अरी मानिनी भार मान का क्यों ढोती है ?
अरी विभावरी क्यों रोती है ?

दूर गगन में उस तारक ने उस तारा से करी ठिठोली
देखो तो वह तारा झिलमिल झिलमिल करके हंस दी भोली
क्या यह सब कुछ देख तुम्हारे उर मे पीर नहीं होती है ?
अरी विभावरी क्यों रोती है ?

मैंने तो सजनी दुख में सुख मिलन विरह में जान लिया है
हास कहां, आसू ही मोती सा सजनी पहचान लिया है
मेरे उर की पीर किन्तु दृग-नीर-धार यह कब धोती है
अरी विभावरी क्यों रोती है ?

व्यथा कथा

व्याकुल फिर भी व्यथा बनी है !
कलकण्ठी काली कोकिल भी आती
डार डार उड़ पंचम स्वर में है गाती
गा गाकर जग की पीड़ा को सहलाती
सहलाती क्या, वह उल्टी आग लगाती।
कुहू उसकी भी व्यथा-सनी है
व्याकुल फिर भी व्यथा बनी है।
इठला इठला नीलोत्पल मोद मनाते
नित मलय ताल पर मादक नृत्य दिखाते
गुन गुन कर भंवरे उनको कथा सुनाते
पर कमल क्रोड में बैठ वहीं फंस जाते
हो जाती तब पीर घनी है
व्याकुल फिर भी व्यथा बनी है।

सुमन सौरभ

सुमन ! सौरभ सरसाते रहो
इस मेरे जग हीन म्लान को प्रतिपल हर्षाते रहो।
सुन्दर वनकर तुझसे सीखे
जग सौरभ सरसाना
छलिया भंवरों को भी
मादक मधु मकरंद चखाना
कांटों में हंसते लख तुझको
अरिदल में सीखे हंसना
और सर्मपित होकर तुझसा
प्रिय पद पर चढ़ जाना
जग को यह दिखलाते रहो, अगजग को हर्षाते रहो
सुमन ! सौरभ सरसाते रहो।

अनोखा गान

जीवन एक अनोखा गान

कष्ट अनोखी गमक है इसमें और सुखों की हूक
पतनोत्थान भी स्वर विशेष हैं, सुन तू होकर मूक
न वस कर सुनने से मतिमान।
जीवन एक अनोखा गान।

आश्रम इसके चार चरण यह ऐसा सुन्दर छन्द
केवल रसमय इसे समझना भूल बड़ी मतिमंद !
पड़ेगा सुनना देकर कान
जीवन एक अनोखा गान।

मनुज, देव, दानव सब ने ही गाया इसका राग
हर कोई इतना गा पाए जितना जिसका भाग
इसे गाते अब भी भगवान
जीवन एक अनोखा गान।

निर्झर तारक छल छल झिलमिल करते कैसे आज
सम पर देकर ताल सजी क्या बजा रहे हैं साज
यही है जीवन की मुस्कान
जीवन एक अनोखा गान।

गायक से

भूल कर तू ज्ञान औ, सद्ज्ञान
गा रहा क्यों आज मारक गान?

फूंक कर चिनगारियां अरमान
और आहों का नया पवमान
फूंकने को लहलहाता विश्व
कर रहे हो क्या अरे अनजान
इस तरह से पा सकेगा त्राण?
गा रहा क्यों आज मारक गान?

विश्व है तो है तुम्हारा मान
कर रहा क्या बुद्धि लेकर म्लान
आज जीवन गीत गा तू छोड़ मारक गीत
नाश के उन्माद में मत भूल रम्य अतीत
जला दे नाश के सामान।
गा रहा क्यों आज मारक गान?

एकता जो विश्व का है प्राण
चाहते हैं एकता भगवान
सत्य शिव सुन्दर विनिर्मित नित्य
नव सुधा का सब करें मिल पान
हो सके तब विश्व क्या म्रियमान?
गा रहा क्यों आज मारक ज्ञान
भूल कर क्यों ज्ञान औ, सद्ज्ञान?

टक्कर

टक्कर जो पहाड़ से लेते
छिन्न भिन्न हो होकर वे अपना जीवन खो देते।

क्या जाता है तब भूधर का
जिसका नहीं कभी दिल धड़का
जिसको नहीं किसी का खटका

आंधी ओले आएं बरसें
विजली बादल कड़के गरजे
अचल अचल ही सदा रहा है
हो जाते हैं चेत अचेते।

जो पहाड़ के बसने वाले
विपदाओं में हंसने वाले
कहां दांव में फंसने वाले

महाकाल से भी लड़ जाते
वही बहादुर वीर कहाते
उनसे लड़कर अरि सेनानी
क्या जीवन की नय्या खेते
टक्कर जो पहाड़ से लेते।

चुनौती

आओ रक्षा करें देश की भारत देश हमारा है ।

बच्चा बच्चा वीर सिपाही वनने को तय्यार यहां
चप्पा चप्पा देश वचाए सबकी यही पुकार यहां
लड़ने भिड़ने को जो आए उसे मिटा दे मार यहां
किसकी हिम्मत कर पाए कोई अपना अधिकार यहां
दूर फिरंगी बिना शस्त्रबल के हमने कर डाला है
शस्त्र उठाना उस पर पाप नहीं जो रिपु हत्यारा है।

आओ रक्षा करें देश की भारत देश हमारा है।

हर नारी झांसी की रानी हर नर वीर प्रताप यहां
वैरी का वध करने को कोई न समझता पाप यहां
सोया शेर जगाया जाए तो रहता चुपचाप कहां
सुन दहाड़ सिंहों की गिरती अरि-चिडिया चुपचाप यहां
किसी दिशा में अगर कहीं भी दुश्मन पाया जाएगा
ऐसी मार पड़ेगी जैसे उसको कभी न मारा है

आओ रक्षा करें देश की भारत देश हमारा है।

तुम्हारी भूल

तुम्हारी है यह कैसी भूल
छानते हो यह कैसी धूल
गिरेगी आज भयानक गाज
वैरियो तुम पर निश्चय आज

बढ़ाना कदम न आगे और
दिखाना अधिक न हमको जोर
मचाना व्यर्थ यहाँ पर शोर
समर होगा अति घोर कठोर

बढ़ेंगे अब भारत के वीर
तुम्हारे देंगे उर को चीर
कठिन होगा सहना अब वार
समझना मत भारत को दीन

शक्ति का अब करके आह्वान
बढ़ा है आगे हिन्दोस्तान
कहां अब तेरा होगा त्राण
बचा ले यदि बच जाएं प्राण।

जलद देव

घिर उठी सुघटा घनघोर है,
चमक रही चपला चहुं ओर है,
मधुर मादक कोकिला गा रही,
विविध मोद मना रहे मोर हैं।

व्यथित चातक प्यास लिए हुए
निर्निमेष घन ओर लख रहे
मनोकामना सब की पूर्ण हो
जलद बरसो, बरस पड़ो अहो !

चकित हो सब लोग यही कहें
कहर क्या जग में हा ! हो रहा ?
उमड़ता है पर बरसता नहीं
सतत बीत रहा कृषिकाल है।

इधर ताल पड़े जल शून्य हैं
उधर बैल बिना जल मृतक से
रिक्त हुए जल से सब कूप हैं
शत शत लोग वहां जमा हुए

मन अधीर नहीं बनना कभी
प्रभु के घर कोई कमी नहीं
भर देते हैं घर धन धान से
अपने जन पर जब कृपा करें।

कुछ बोल

K. P. SABHA AMBPHALA
LIBRARY
No.
Date.
JAMMU

एक बार चाहा था
तू ने कभी प्यार
जब थी बहार
कोकिल की थी
मधुरिम पुकार
बन दूती आती बार बार
गुंजित नंदित कर उर निकुंज
छेड़ा करती हर बार
मेरे भावों के मौन तार
भूला अग जग
तन्द्रिल तब दृग रस सिक्त शिथिल
थे निरख रहे हो प्रेम विकल
जो विलसे थे अन्वेषक से
हां, एक बार
चाहा तूने था कभी प्यार।

पर अब तो कहो
किस लिए भला चुप बैठे हो ?
जब उमड़ पड़ा
यह प्रेम सिन्धु
बन गया सरस मम प्रेम बिन्दु
लस रहा सतत
तुझ जैसा जो
ज्योति कलश वह पूर्णेन्दु
जो कर प्रकाश
मेरी सूनी अन्धेरी

मन की नगरी में
मिटा रहा नित ताप-तिमिर
अब तो
बिम्ब अधर प्रिय खोल
कुछ बोल बोल
कल कण्ठ-शंख से कर कर गुंजार
उत्सुक चातक सा
मेरा मन कर रहा
अविरत पुकार !

प्राणेश

अविरल पिपासा
न जाने क्यों
विकल किए जा रही है
तुम्हारे दर्शनों की।
कौन सा जादू है
तुम्हारे रूप में ?
क्या तुम उस फूल सी
हो सुन्दर
जो, अप्सरियों सी इधर-उधर
उड़ती फिरती तितलियों का,
मन मोह लेता है ?
मन मोह लेता है।
और फिर
तितलियाँ जिसे प्रतिपल
अपना नृत्य दिखाकर
उसे मोह लेने में
तल्लीन रहती हैं।
उस फूल सी हो
क्या तुम आकर्षक
जिसे पादप
अपनी नहीं टहनी की
अट्टालिका पर
हरित पत्रांक के पालने में
झुलाया करता है ?
जिसके कानों में भंवरे
कोई अनजाना गीत

गुनगुनाया करते हैं।
कंटक प्रहरी
जिसके रूप लावण्य की
रक्षा करते हैं—
क्या तुम वही फूल तो नहीं ?
जिसकी सौरभ कीर्ति
दिग्दिगन्त में व्याप्त है ?
नहीं नहीं, तुम तो सचमुच
फूल से भी सुन्दर हो
क्योंकि
तुम्हारी छवि निहारते ही कवि
कल्पना की झील में
ऊबने डूबने लगता है।
इसीलिए तो
तुम्हें पा लेना सच मुच
बड़े भाग्य की बात होगी।
मेरे प्राणेश
काश मैं कभी
तुम्हें पा सकता
कभी सौभाग्य से तुम्हें पा सकता।

मिलन के पल

है कहां
अवकाश मुझको
खोजने का मिलन के पल
विरह में ही
जब हुआ आनन्दमय हूं।
विरह क्या है ?
वेदनामय, यातानामय !
वेदनामय कौन कहता ?
सोच तो कुछ
वेदना में भी भला नहीं है
आनन्द मिलता ?
वेदना में भी न क्या है
विरह का मनकमल खिलता ?
वेदना की वायु से क्या
है न मन का सुमन डोले
जो किसी के
हास सा है
है छटा अपनी दिखाता।
दुःख में भी, ताप में भी
है न क्या वह और फलता
फिर न क्या वह है
किसी के मधुर स्मित को
ले विकलता ?
है न क्या
भरता भ्रमर का गान उर में ?
है न क्या

सरिलहरियों सा
मन नचाता है किसी का ?
दूर हो जाता सकल अज्ञान
सत्य शिव सुन्दर सजीला गान
फूट पड़ता
मरु हृदय में
स्रोत सा हंसता उछलता प्राण
फिर भला क्यों
खोजता मैं
मिलन के पल ?

निष्ठुर क्यों

प्रिय मेरे
तुम निष्ठुर क्यों ?
जब आते हो
तब जाने क्यों
दिल की धड़कन बढ़ जाती है
रोम रोम पुलकित हो उठता
जैसे हंसता खेत धान का।

और जब सहसा
मुझे छोड़ कर एकाकी
सुमन की गंध सदृश
चले जाते हो
तब लगता है
जैसे सब कुछ छूट गया हो !
लेकिन फिर भी
मैं तुझ को
क्या तेरे मुख की छवि को
भूल सका हूं ?
नहीं कदापि नहीं
लेकिन फिर भी
प्रिय मेरे
तुम निष्ठुर क्यों हो ?

कविता-अकविता

तुम कितनी
स्वच्छन्द हो गई कविता रानी
भूल गये
पदचरण सभी नव साधक ज्ञानी।
भूले शीर्षक
भाव हुए अस्पष्ट
रुष्ट हो गए छन्द
भाव सब पानी पानी।

श्रेष्ठ कुशल गंभीर
वही कवि होगा अब तो
चिन्तन का ही बोझ
उठा जो चल पाएगा।
नहीं भाव-सौन्दर्य
यदपि होगा कथनी में
शब्द जाल से पर वह
अपनी धाक बिठाएगा।
भले अकविता कहे कोई उसको
लेकिन होती
उसके लिए
वही बस कविता।
अब वह
चन्दा से नहीं
वदन की उपमा देगा
फुलके से ही
क्योंकि फुलका गोल गोल है
श्वेत श्वेत है

भूख मिटा सकता है तन की।
और गगन का चांद बिचारा
जो चक्रवाक को
नित्य जलाता
जिस पर, कल का
मानव अपना
वास बना पाएगा
उस पर अपना
हास सदन बिखरा पाएगा।
ऐसी होगी नई कल्पना
नई कल्पना
नख-शिख जिसका
ओर छोर, औचित्य
सभी कुछ होगा
कवि का बुद्धिजन्य प्रमाद
अनिश्चित।
नई कल्पना हेतु
अलंकार, रस भाव
ओज माधुर्य नहीं अपेक्षित।
स्वयं सुसज्जित
चिन्तन भूषित
हृदय छोड़ मस्तिष्क वासिनी
जिसकी वाणी
गुटबन्दों की नई सभा में
बार बार होगी उत्साहित
पूजित।

ऐसे कवि को
मानेंगे क्या ज्ञानी मानी ?
या मानेंगे महाप्राण की
अविरल गति से
निश्छल मति से

बहने और बहाने वाली
उस वाणी को ?
जिसने राम की शक्ति पूजा
कुकुकरमुत्ता
कुल्लीभाट का सृजन किया हो ?
जो अपने में स्वयं निराला
नवगीतों का प्रेरक गायक
जो बादल में
सिंह गर्जना भर सकता है
तम के पार
निहार सके जो
विधवा का
आलाप सुन सके
और भिखारी को वैसे ही
स्वयं सुनिश्चित कर सकता हो
जिससे हृदय द्रवित हो जाए ?

किन्तु कौन सी नई अकविता
हृदय आन्दोलित कर पाई है ?
कौन हुआ रोमांतित बोलो !
सुनकर
नई अकविता कविता ?
यह कविता तो
बस एक दिन
संग्रहालय में
संग्रहीत होकर केवल
रह जाएगी ।
कवि का सुन अनुरोध
अरी कल्याणी, कविता रानी !
ऐसी मत बन
मत बन ऐसी
जिससे तू अप्रिय बन जाए
लोग अकविता
कहें तुझे जो !

पछाड़ेंगे

हम ही तुम्हें पछाड़ेंगे
जान पड़ेगा तभी तुम्हें जब हम जड़-मूल उखाड़ेंगे

नाहक अपनी कटक कटाते
गीदड़ भभकी किसे दिखाते ?
नहीं भागने भी पाओगे जब हम शेर दहाड़ेंगे
हम ही तुम्हें पछाड़ेंगे !

लाख लाख भी चमकें तारे
कभी न कर पाएं उजियारे
फीके पड़ जाएँगे जब रवि मुखड़ा उभर उघाड़ेंगे
हम ही तुम्हें पछाड़ेंगे।

संभलो अरि सेनानी संभलो
तनिक जरा ठहरो कुछ दम लो
बदला अभी चुकाएंगे जब लातों तले लताड़ेंगे
हम ही तुम्हें पछाड़ेंगे।

किन भूलों में भूले हो तुम ?
किस घमंड में फूले हो तुम ?
मेख तुम्हारे सिर पर हम ही विजय ध्वजा की गाड़ेंगे
हम ही तुम्हें पछाड़ेंगे।

क्यों ?

खोजते हैं प्राण किस को
जब तुम्हीं हो प्राण मेरे
हो गए अरमान उत्सुक
आज क्यों नादान मेरे ?

सनसनाते आ रहे हो झनझनाते जा रहे
हर निशा हर दिवस तुम संदेश नव नव ला रहे
आह दुख में और सुख में कर मुझे सहला रहे

चाह है सुनने की तो
बैठो सुनो ये गान मेरे।
खोजते हैं प्राण किसको
जब तुम्हीं हो प्राण मेरे ?

लोचनों से दूर हो अनुभूति से लेकिन निकटतम
यदपि चिरपरिचित हो मेरे किन्तु अन्तर है विकटतम
दृष्टि से हो दूर पर महसूस तो करता हूं हरदम

चित्र तेरी याद के ही
वन रहे हैं त्राण मेरे।
खोजते हैं प्राण किसको
जब तुम्हीं हो प्राण मेरे ?

देह मम तव गेह है नव नव हृदय का साज नव
श्वास की मंजीर को तुम छू उठाते राग नव
भाव भावन जो भरित भरते हृदय में भाव नव

गा रहे मानो तुम्हीं हो
आज रे गुणगान मेरे
खोजते हैं प्राण किसको
जब तुम्हीं हो प्राण मेरे ?

सूने पल

ये सूने पल अति सुन्दर
प्रति दिवस दिवस फिर आएं।

जिनमें तुम गुपचुप आते
उर में प्रकाश भर जाते
पदचाप बिना, चिर सुन्दर!
क्षण भर में फिर छिप जाते
नित आएं फिर मन भाए
ये सूने पल अति सुन्दर।

यह सूनापन जब आता
अग जग विस्मृत हो जाता
तुझ में पाता जग सारा
अपने में तुझ को पाता
फिर क्यों न मुझे बहलाएं
जब जब ये सुन्दर आएं

ये सूने पल अति सुन्दर
प्रति दिवस दिवस फिर आएं।

मेरी हार

जब से मेरी हार हुई।

सकल शिराएं मेरी तेरी
तंत्री की, प्रिय ! तार हुई हैं
कर कमलों से झंकृत नूतन
मिलन प्रेम झंकार हुई हैं
जब से मेरी हार हुई।

गमक सुरीली आशाओं की
कसक मधुर मेरे मानस की
परिवर्तित प्रिय अरमानों में
जगती का श्रृंगार हुई है
जब से मेरी हार हुई।

मुक्ति पथ

खाना पीना भ्रमण करना
राम का नाम लेना;
बोलना प्रिय, पठन करना
आपदाओं को हटाना;

तन से मन से सकल जग से
नेह नाता निभाना,
सेवा करना दलित जन की
हो यही बस काम मेरा।

कविता केशव

कुण्डलियां

केशव ! कविता कामिनी कनक-कदम्ब सुकाम
मिला न इनमें एक भी जीवन हुआ हराम।
जीवन हुआ हराम जन्म जग में क्यों पाया ?
मिले नहीं यदि राम समय सब व्यर्थ गँवाया
कहूं न क्यों फिर आज बना है जीवन बेढब
होगा सार्थक तभी मिलें जब कविता केशव।

उद्‌बोधन

हुए क्यों दूर विश्व से आज
बता दो मुझको मोहन आज
भुलाया क्यों हम से अनुराग ?
नहीं क्या आती है कुछ लाज ?

सुना करते तुम तारक-गान
देखते फूलों की मुस्कान
कभी क्या सुनी देश की बात
निठुर कवि ! देकर थोड़ा ध्यान ?

अरे ! इन फूलों जैसे लाल
कभी क्या देखे हैं कर ध्यान ?
मचलते बिन रोटी के नित्य
भूख से व्याकुल जिनके प्राण ?

नहीं कंगलों की करुण पुकार
सिहर सुन उठता है क्या गात?
करोगे क्या उनका उद्धार
सकल जग के नेता बन तात!

उधर वह विधवा रोती हाय!
बने हो रे! तुम क्यों निरुपाय
तुझे फिर बनकर मोहन आज
बचानी है इन सब की लाज।

न हो पाए हैं बंधन मुक्त
कृषक देते वर्षों से ब्याज
महाजन के पंजों से मुक्त
करा लो इनको हे कवि आज!

सांप वन बैठे ले धन कोष
छीनना है उनका धन धाम
मरें क्यों ये भूखे बिन काम
सभी को कर दो एक समान

नहीं है कुछ मंदिर की चाह
नहीं कुछ मसजिद की परवाह
नगाड़े शंख अजां बेकार
न हो हिय में जो पीर अथाह।

कवि का शृंगार

वेदना जग की अपरिमित बन गई शृंगार कवि की।

कल्पना के गगन पर प्रासाद भावों के बनाए
गूँजने फिर फिर लगे थे गीत उनमें नव्य सुन्दर
सुख-सदन में डूबकर कवि का हृदय इतरा रहा था
राग का अनुराग का भंडार था उर में छिपाए
पर हुआ साक्षात् जब जब सत्य इस संसार का, तब
अश्रु से अभिषिक्त गाथा बन गई उद्गार कवि की
वेदना जग की अपरिमित बन गई शृंगार कवि की।

खो गया सुख खोज लाऊँ दुःख दारिद सब मिटाऊँ
शोक भय और द्वेष की ये भित्तियाँ सारी गिराऊँ
वेदना से हों निकलते जो करुण वे गीत गाऊँ
प्रेम के आलोक से अग जग प्रकाशित कर दिखाऊं
दुःख डूबे विश्व-हित मैं सुख समूचे खींच लाऊं
किरण कविता की तभी कर पाएगी अभिसार कवि की
वेदना जग की अपरिमित बन गई शृंगार कवि की।

निमन्त्रण

गूंज रहा कुंज देखो कोकिला कलाप से है
कहो, काहे आज इस तरह अकुलाती है।
सुमन सुवास सने शोभित निकुंजों में क्यों
डालियों को छेड़ चली वायु इठलाती है
लगता है मुझे तो यह कुहू कुहू कर के ही
रूठे हुए पिया को मनाती है रिझाती है।
किन्तु नहीं मिली इसे मन में जो चाह घनी
कस्तूरी मृग सम मन भरमाती है।

जीवन भार

किस हित जीवन जीवन भार
चिन्ता ग्रसित हुआ संसार !

सरिता जीवन, सुख-दुख कूल
संग बहे ये कर्म अनुकूल
चुभता क्यों इक बन वन शूल
भावे क्यों दूजा ज्यों फूल ?

प्यारे यह तो जग का सार
जीवन को मत समझो भार।

विडम्बना

विखरी यह नक्षत्रमालिका व्योम चषक में घूम रही
मन्द समीरण झुला झुला कर डार डार को चूम रही
उधर क्षपाकर पंथी निशि का रूप सुधा सब लुटा रहा
जाने किसके स्वागत में भव नटी मचा यह घूम रही
कोई तो कारण होगा जिसके हित मैं भी जाग रहा
अलसाए नयनों से अर्धनिशा में गिनता दाग रहा
पल पल करवट वदल बदल कर बीत रही भीगी रातें
निद्रा स्पप्न हो गई मेरी कैसी यह अनुपम घातें
घोर विषाद मिला है क्यों कर चेतनता भी भाग गई
सजल सुधी उस बीते युग की आई डस बन नाग गई
बिखर गई नक्षत्रमालिका व्योम-चषक में घूम रही
मन्द समीरण झुला झूला कर डार डार को चूम रही

विश्व शांति

रच हिंस्र कलाएं स्वयं विश्व के करना प्राण हरण
बनना मानव का हत्यारा क्या है यह मांगल्यकरण
मैं अब तक जान न पाया मानव बनता क्यों दानव
गोले मारक बरसाता पैदा करता हा हा रव
संसार बनाकर मरघट शवरज पर राज करेगा
मानव के लाल रुधिर से निज प्रांगण हरित करेगा
शस्त्रों के बल पर शाँति ? यह केवल तेरी भ्रान्ति
तजकर यह द्वेष गरलमय फैलेगी शीतल शांति
पर दुख ले अपना सुख देकर दुख में सुख का अनुभव
ऐसा यदि कर न सके तो कैसे हो शांति का उद्भव ?

सच कहना

सच कहना क्या तेरे सपनों में मैं भी आता हूं रानी ?
तुम मेरे सपनों में आती
नयनों की मुस्कान दिखाकर
सोए मन के भाव जगाती
कभी सुनाती गीत हिरण मन मेरा मस्त बनाती हो
इसी तरह क्या तेरे मन को
मैं भी भाता हूं क्या रानी ?
सच कहना क्या तेरे सपनों में मैं भी आता हूं रानी
जब तुम मेरे सम्मुख आकर
मधुर मदिर निज नयन झुकाती
प्रेयसी, उस पल मेरी छाती
उठती फूल सिहर उठता तन
मुझे रुलाती हो जब पल में दूर कहीं छिप जाती हो
आकर तेरे सपनों में
क्या तुम्हें रुलाता हूं मैं रानी ?
सच कहना तेरे सपनों में क्या मैं भी आता हूं रानी ?

लौह पुरुष

लौह पुरुष हैं वीर भारती लोहा क्या तुम उनसे लोगे ?

अपने प्रण पर प्राणों की है बाज़ी कितनी बार लगाई
जन्म भूमि से अरि की सेना देखो कितनी बार भगाई
झपट पड़े उन पर सिंहों से जिसने घुरकी इन्हें दिखाई
बाल नारियों के हत्यारों की है कितनी बार सफाई
उनका वज्राघात कायरो बोलो ! तुम कैसे झेलोगे ?
लौह पुरुष हैं वीर भारती लोहा तुम क्या उनसे लोगे ?

क्या वनता है ग्राम जलाकर बोलो क्या तुम्हें जला दें
क्या होता वकवाद व्यर्थ कर, संभलो दो-दो हाथ दिखा दें
चले जुबां तो काट जुबां दें आँख उठे जो आंख निकालें
सीमा पार करे जो दुश्मन पल में उसको धूल मिला दें
खेल चुके जो खेल वीरता के उनसे तुम क्या खेलोगे ?
लौह पुरुष हैं वीर भारती लोहा तुम क्या उनसे लोगे ?

एक एक सौ सौ से लड़ने वाले वीर, वही तो हैं ये
आठ दिवस रह भूखे अड़ने वाले वीर, वही तो हैं ये
झांसी वाली रानी का बलिदान गए हो भूल कहां क्या ?
चीर कलेजा दे दुश्मन का जो शमशीर, वही तो हैं ये
क्या कहते हो, उन वीरों को पीछे मार धकेलोगे ?
लौह पुरुष हैं वीर भारती लोहा क्या तुम उनसे लोगे ?

□□
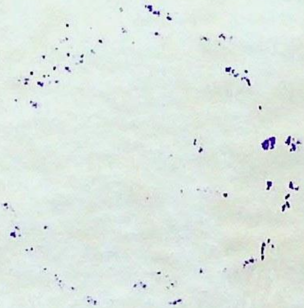
K. P. SABHA AMEPHA...
LIBRARY
No...............
Date.............
JAMMU